

~~अथ प्रस्तावः ॥~~

श्रीयुत भर्तृहरिरुक्त नीति शृङ्गार और वैराग्य तीन अलङ्कार पुस्तक जगत में विशेषकर विख्यात है। वास्तव में यह पुस्तक सर्वोपयोगी होने से अत्यन्त प्रशंसा के योग्य है। क्योंकि यह सहानुभूतिमान निष्पक्ष आत्मलक्षण युक्त महाराजा भर्तृहरि जी का शुद्धानुभव है। यद्यपि इस के तीनों शतक अपने २ विषय में मनुष्यों के उपकारी हैं तथापि समय के हेर फेर से भारतवर्ष की इस बिगड़ी हुई दशा में शृंगार विषय अब ऐसा उपयोगी नहीं रहा जैसा कि नीतिशतक और वैराग्यशतक इस समय सर्वोपयोगी है। शृङ्गाररस जगत में स्वयमेव स्वभाव से ही ऐसा बढ़ रहा है जिस की वृद्धि को भी भारतवर्ष की अवनति का कारण कहना अनुचित नहीं है। इत्यादि विचारों से इन ने पहिले शृङ्गार को छोड़कर केवल नीति और वैराग्यशतक को ही सुघम भाषार्थ और अभिप्राय सहित छपाकर प्रकाशित किया था परन्तु अब यह शोचा गया कि महाराजा भर्तृहरि जी का शृंगार विषय अन्य काव्यों का सा नहीं किन्तु उस से भी विचारशीलों को जैसा उत्तम कल्याणकारी उपदेश लेना चाहिये सो भाषानुवाद और भाषार्थ देखने से ही पाठकों को ज्ञात होंगे।

यद्यपि भाषार्थ सहित भी भर्तृहरिरुक्त तीनों शतक कई जगह छपे और विकते हैं तो भी उस के भाषार्थ को और भी अच्छे प्रकार सुधार के बहुत कम मूल्य में वितरण करने के लिये हमने छपाया है। वास्तविकता में ब्राह्मणादि चारों वर्णों के लोग अपने २ बालकों को इस नीतिशतक की कण्ठस्थ कराके इस का आश्रय समझा दें और इस के अनुकूल चलने की विशेष शिक्षा कर दें तो वे बालक बहुत अच्छे शिक्षित हो कर संसार में जन्म भर सुखी रहेंगे इन पुस्तकों को छपा कर प्रकाशित करने से हमारा प्रयोजन वे लोग ठीक २ समझ पावेंगे कि जो भाषार्थ रूप से लिखे हमारे वेदशास्त्रानुकूल गम्भीर अनुभवों की ठीक २ एकाग्र चित्त से पढ़ें और समझेंगे तब उन को यह भी ज्ञात हो जायगा कि इन उत्तम पुस्तकों का ऐसा सरल सुगम तथा सारगर्भित भाषाटीका अन्य कीर्द नहीं है।

इस भर्तृहरिशतक के जितने प्रकार के पुस्तक मिलते हैं उन में प्रायः

श्रोकों की संख्या घट बढ मिलती है और अनेक प्रकार का पाठ भेद भी होगया है। सो यह सब लेखकादि के भ्रम से हुआ प्रतीत होता है। हमने अपनी ओर से इन के मूल में कुछ भी नवीनता नहीं की किन्तु जैसा दोचार पुस्तकों में पाठ देखा वैसा ही लिखकर छपाया है। राजा भट्ट हरि का आशय खोजना हमारा काम है किन्तु हम अपनी एवम् सम्मति कुछ भी इसपर खंडी नहीं करते। हमने इस नीतिशतक को सर्वसाधारण का विशेष उपकारी समझकर एवम् छपाके अल्प मूल्य से वितरण का उद्योग किया है सो आशा है कि पाठक लोग लेकर लाभ उठावेंगे और हकारे परिश्रम को सुफल करेंगे। यदि कहीं अल्पज्ञता के कारण भूल रह जावे तो सज्जन लोग वक्ता के आश-यानुसार ठीक कर लें ॥

आप का--भीमसेन शर्मा--इटावा



→ भाषाटीका सहित भूत नीतिमृतक

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूतये ।

स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ॥१॥

(दिक्कालेति) जो ईश्वर दशों दिशाओं तीनों कालों और सब आकाश में परिपूर्ण है अर्थात् किसी दिशा में हो किसी में न हो वह दिक्परिच्छिन्न, जो किसी काल में हो किसी में न रहे वह कालपरिच्छिन्न तथा जो किसी जगह हो कहीं न हो वह देशपरिच्छिन्न कहाता है। संसार के मनुष्यादि सब ऐसे ही हैं। परन्तु वह परमेश्वर सब दिशा, देश और कालों में सदा एकरस व्याप्त रहता है उनी लिये वह अनन्त, चैतन्यस्वरूप और अपने अनुभवसे ही जानने योग्य है ऐसे शान्त तथा तेजोरूप परमात्मा को हमारा नमस्कार हो ॥ १ ॥

जो दिशा कालादि का बीजरूप है जिसकी सत्ता को लेकर ही दिशा कालादि अपने आपे को घोरण किये हुए संसार के काम चलवा रहे हैं वह दिशादि के स्वरूप से ही उत्तर में विद्यमान है सूर्य से सब को प्रकाश पहुंचाने के तुल्य उसी चित्स्वरूप की चेतनता से सब चेतन हो रहे हैं उस गूढ़तत्त्व का विरक्त ज्ञानी लोग अनुभव करते हुए उस सम्बन्धी आनन्द को प्राप्त करते हैं ॥

किसी समय राज्यादिनी निवासी एक ब्राह्मणने किसी महात्मा के प्रसाद से एक ऐसा फल "कि जिस के खाने से जरारोगादि की निवृत्ति और आयुकी वृद्धि हो" पाया। उस ने घन की लालसा से वह फल महाराजा भर्तृहरि को अर्पण किया—राजा ने वह फल स्वयं न खाकर अपनी परमप्रिया रानी को दिया—रानी ने भी उक्त फल किसी अन्य पुरुष को जिस में उसका मन आसक्त था दे दिया उस पुरुष ने वह फल वेश्या को और वेश्या ने राजा को दिया—अर्थात् लौटकर वही फल राजा के पास आगया इस छलयुक्त व्यवहार ने राजा के चित्त में वह प्रभाव उत्पन्न कर दिया कि जिस से राजा ने विरक्त होकर (या चिन्तयाभी-ति) यह श्लोक कह कर सब को धिक्कार दिया है—

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता, साप्यन्यमिच्छ-

ति जनं स जनोऽन्यसक्तः । अस्मत्कृते च परितुष्यति

काचिदन्या, धिक्कृताञ्च तञ्च मदनञ्च इमाञ्च माञ्च ॥२॥

(यामिति) शक्ति को मैं निरन्तर चित्त में रखता हूँ वह रानी मुझसे विरक्त हो कर किसी अन्य पुत्र को चाहती है और वह पुत्र अन्य स्त्री में आसक्त है तथा वह स्त्री मुझ से प्रसक्त है—इसलिये रानी को, अश्वपालको, वैश्या को, मुझ को और काम देव को धिक्कार है कि जिस की यह सब लीला है॥

आशय यह है कि मनुष्यों की भीतरी दशा को खोज किया जाय तो ऊपर से अच्छे सौम्य सज्जन दीखने वाले भी बहुधा गुप्त पापी होते हैं तब हम किसे अच्छा कहें हम स्वयं भी अपने को शोचें तो पापी ठहरते हैं इसी विचार से राजा भट्ट हरि को कुछ ज्ञान और वैराग्य उत्पन्न हुआ ॥ २ ॥

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ।

ज्ञानलवडुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं नरउजयति ॥३॥

(अज्ञ,इति) अज्ञानी जन सुगमता से समझ सकता है और ज्ञानी अति-सुगमता से—परन्तु जिस मनुष्य को थोड़े से ज्ञान से अभिमान हो गया है उसे ब्रह्मा भी नहीं समझा सकते ॥

वास्तव में ऐसा ही मनुष्य शठ कहाता है वह उपदेश सुनने का अधिकारी नहीं इस लिये ऐसे को उपदेश न करना चाहिये ॥ ३ ॥

प्रसह्य मणिमुद्वरेन्मकरवक्रत्रदंष्ट्राङ्कुरात्—

समुद्रमपि सन्तरेत् प्रचलदूर्मिमालाकुलम् ।

भुजङ्गमपि कोपितं शिरसि पुष्पवद्वारये-

न्नतु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥४॥

अब दो श्लोकों करके दृष्टान्तसहित यह सिद्ध करते हैं कि मूर्खजन कदापि नहीं समझ सकता—(प्रसह्येति) मनुष्य वक्रात्कार से मगर की दाढ़ों की नोक से मणि निकाल सकता है—चञ्चल तरङ्गों से क्षोभित सागर को तैर सकता है क्रोधयुक्त सर्प को भी शिर में फूल की माला के तुल्य धारण कर सकता है—परन्तु मूर्ख के चित्त को जो कि कुकर्म्म से फँस रहा है उसे कोई नहीं हटा सकता ॥

आशय यह है कि यद्यपि पूर्वोक्त बातें असम्भवशी हैं तथापि कदाचित् सिद्ध हो सकें परन्तु मूर्ख को उपदेश करके ठीक कर लेना इन से भी अधिक असम्भव है इस कारण ऐसे मूर्ख को सुधारने के लिये धर्मात्मा विचारशील को निष्फल परिश्रम कदापि न करना चाहिये । यदि ऐसे मूर्ख जानास मात्र

समुद्र में बिन्दु के समान कुछ सुधार हुआ भी तो भी इतने से विद्वान् का परिश्रम सफल न होगा क्योंकि वह न सुधरों में ही परिणत होगा ॥४॥

लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पोडयन्—

पित्रेच्च सुगन्तृष्णिकासु सलिलं पिपासाद्वितः ॥

कदाचिदपि पयटच्छशविषाणमासादय—

नतु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥ ५ ॥

(लभेतेति) यत्न से पीड़ने पर बालू में से तेल निकल सकता है—कदाचित् प्यामा मनुष्य सुगन्तृष्णा में जल पी सकता है—और दूढ़ने पर खरहे को सींग भी प्राप्त कर सकता है । यद्यपि उक्त बातें असम्भव हैं परन्तु इन से भी अधिक असम्भव मूर्ख मनुष्य के चित्त को सुधरना है ॥

इस कारण हठी मूर्ख को सुधाने के लिये कदापि व्यर्थ उद्योग न करे ॥५॥

व्यालं बालमृणालतन्तुभिरसौ रोद्धुं समुज्जृम्भते—

छेतुं वज्रमणीच्छरीषकुसुमप्रान्तेन सन्नयते ।

माधुर्यं मधुविन्दुना रचयितुं क्षाराम्बुधरोहते—

नेतुं वाञ्छति यः खलान्पथि सतां सूक्तैः सुधारूपन्दिमिः ॥६॥

(व्यालमिति) वह मनुष्य कमल को कोमल डण्डी के सूत से (जोकि मुख से फाँक देने मात्र से टूट सकती है अर्थात् अत्यन्त कोमल है) हस्तों को धाँपना चाहता है—और शिरिष वृक्ष के पुष्प की पङ्करी (यह भी अतिकोमल है) से हीरे को बंधने का यत्न करता है—और बूँद भर मधु (शहद) से खारी समुद्र को मीठा किया चाहता है—जो अपने असुतरूप वचनों से खलों को सन्तर्पण में ले आना चाहता है ॥

जैसे पूर्वोक्त असम्भव काम कदापि सिद्ध नहीं हो सकते वैसे अच्छे उपदेश से मूर्ख का सुधारना भी असम्भव है । इतलिये ऐसे असम्भव काम के लिये अन्य कामों की हानि करके व्यर्थ उपाय न करे ॥ ६ ॥

स्वायत्तमेकान्तगुणं विधत्ता, विनिर्मितं छादनमज्ञतायाः ।

विशेषतः सर्वविदां समाजे, विभूषणं मौनमपण्डितानाम् ॥७॥

(स्वायत्तमिति) मौन (चुपरहना) अपने आधीन गुण है-विधाला ने इसे मुख-
ता का ढकना बताया है और विशेष कर बुद्धिमानों की सभा में तो यह मुखों का ब-
ड़ा भूषण है ॥

अल्पज्ञ मनुष्य को चाहिये कि कम बोले वा मौन रहे तो उस की प्र-
तिष्ठा और गौरव शीघ्र नहीं बिगड़ेगा और कार्य सिद्ध होते जायेंगे ॥ ७ ॥

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभव-

तदा सवज्ञोऽस्मीत्यभवदवलितं मम मनः ।

यदा किञ्चित्किञ्चिद्बुधजनसकाशादवगत-

तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वरइव मदो मे व्यपगतः ॥८॥

(यदेति) अल्पज्ञानी अभिमानी होता है और विशेषज्ञ जन नम्र होजाता है
इसको अपने ऊपर दृष्टान्त लाकर श्री भर्तृ हरि जी कहते हैं कि जब मैं अल्पज्ञ था
तब हस्ती के तुल्य मद से अन्धा होरहा था-परन्तु जब मैंने पण्डितों से कुछ र-
ज्ञानप्राप्त किया तो अपनेको मूर्ख पाया और मेरा मद ज्वर के समान उत्तर गया ।

अल्पज्ञ का बड़ा लक्षण यही है कि जो अपने को ज्ञानी समझे अपनी
वात पर हठ करे किसी बड़े विद्वान् की भी न माने यदि श्रेष्ठ विद्वानों का सङ्ग
करे और विद्वान् लोग धीरे २ उस के मद (नशा) को शान्त करें तो
कदाचित् समझ सके ॥ ८ ॥

कृमिकुलचितं लालाक्लिनं विगन्धि जुगुप्सितं-

निरुपमरसं प्रीत्या खादन्नरास्थि निरामिषम् ।

सुरपतिमपि श्वा पार्श्वस्थं विलोक्य न शङ्कते-

नहि गणयति क्षुद्री जन्तुः परिग्रहफलगताम् ॥९॥

(कृमिकुलचितमिति) क्षुद्र विषयों में फसे हुये मनुष्य को श्वान् के दृ-
ष्टान्त से बुरा बताते हैं कि जैसे कुकुर-कीड़ों के समूह से युक्त, लार से भीगे
दुर्गन्धि से पूरित, निन्दित, नीरस तथा मांसरहित मनुष्य के हाड को खाते स-
मय अपने पास खड़े हुये इन्द्र की भी देखकर शङ्का नहीं करता वैसे ही क्षुद्र
मनुष्य जिस वस्तु को ग्रहण करता है उस की तुच्छता पर ध्यान नहीं देता
और सज्जनों की निन्दा से नहीं डरता है ॥

इसलिये सज्जनों की चाहिये कि ऐसे झूठे पुरुषों की सदा उपेक्षा करते रहें ॥९॥

शिरः शार्वं स्वर्गात्पतति शिरसस्तत्क्षितिधरं -

महीध्रादुत्तुङ्गादवनिमवनेश्चापि जलधिम् ।

अधोऽधो गङ्गेयं पदमुपगता स्तोकमथवा -

विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः ॥१०॥

(शिर, इति) उत्तमस्थान (पद) से गिरा हुआ मनुष्य क्रमशः नीचे ही गिरता जाता है इस को गङ्गा के दृष्टान्त से कहते हैं कि जैसे गङ्गाजी प्रथम स्वर्ग से महादेव जी के मस्तक पर गिरी—पुनः वहाँ से ऊँचे पर्वत पर—उस पर्वत से भूमिपर भूमिसे समुद्रमें—इस प्रकार क्रमसे नीचे ही गिरती गई—वैसे विवेक भ्रष्टजन भी अनेक प्रकारसे नीचे की ही गिरते जाते हैं ऊपर दृष्टि नहीं डालते ॥

इसीलिये ऐसे मनुष्य जब तक अपने गिरने की पूरी अवधि (दृष्ट) तक न गिरचुके तब तक उनकी ऊपरी कक्षामें चढ़ानेका उद्योग न किया जाय क्योंकि उनकी बीच में सुधारना असम्भव है । गंगा जी का दृष्टान्त केवल गिरने मात्र के साथ लेना दृष्ट है ॥१०॥

शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक् छत्रेण सूर्यातपो-

नागेन्द्रो निशिताङ्कुशेन समदौ दण्डेन गोगर्दभौ ।

व्याधिर्भेषजसंग्रहैश्च विविधैर्मन्त्रप्रयोगैर्विष-

सत्रंस्थौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्थौषधम् ॥११॥

(शक्य इति) जलसे अग्नि का, छातासे धूप (घास) का, तीखे अङ्कुशसे मढ़ वाले हाथीका, दण्डसे दृष्ट बैल तथा गदहेका, अनेक प्रकारके औषधोंसे रोग का और मन्त्रप्रयोग से विषका निवारण किया जा सकता है । इस प्रकार शास्त्र में सब का औषध कहा है परन्तु मूर्ख का कोई औषध नहीं है ॥

यह अत्युक्ति है सर्वथा निषेध करने में तात्पर्य नहीं किन्तु आशय यह है कि अग्नि आदि को जलादि से शान्त करना महज है पर मूर्ख को ज्ञानोपदेश से शान्त करना बहुत कठिन है इस कारण समयानुकूल किसी सामान दण्डादि उपाय से मूर्ख को शान्त करना चाहिये ॥११॥

साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः ।

तृणं न खादन्नपि जीवमानस्तद्वागधेयं परमं पशूनाम् ॥१२॥

(साहित्येत्यादि) जो मनुष्य साहित्य, संगीतशास्त्र और कला कोशल की विद्या से अनजान है—वह पूछ और भीग से रहित साक्षात् पशु है—यह विलक्षण पशु जो तृण (घास) नहीं खाता और जीता है यह उन पशुओं का उत्तम भाग्य (खशकिस्मती) है ॥

प्रयोजन यह कि संसार में पशु के तुल्य न रहे वा न साने जावे इस कारण प्रत्येक मनुष्य को शास्त्र का अभ्यास करना चाहिये ॥१२॥

येषां न विद्या न तपो न दानं, ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः ॥

ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता, मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥१३॥

(येषामिति) जो मनुष्य न विद्यासम्पन्न, न तपस्वी, न दानी, न ज्ञान-वान् न सुशील, न गुणी और न धर्मात्मा हैं वे संसार में पृथ्वी पर भाररूप हुए मनुष्य के स्वरूप से साक्षात् पशु विचरते हैं । इस लिये पशुता दूर करने के अर्थ मनुष्य को विद्यादि शुभगुणों से युक्त होना योग्य है ॥१३॥

इन विद्यादि गुणों में से कोई २ गुण कुछ २ सभी मनुष्यों में अवश्य होता है पर थोड़ा गुण अधिक अवगुणों से दबा रहने के कारण कहा नहीं जाता ॥

वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैस्सह ।

न मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि ॥ १४ ॥

(वरमिति) पर्वतों और दुर्गों में व्य. आदि वा भील आदि वनचरों के संग भ्रमण करना उत्तम है परन्तु मूर्खों का सहवास चाहे इन्द्रभवन में भी हो वह भी दुःख दायक होने से त्याग्य है अर्थात् मज्जनों का समागम करना सर्वोत्तम है ॥ १४ ॥

अभिप्राय यह है कि जैसे पुष्पवाटिका में जाने से शरीर में सुगन्धि के परमाणु नासिकादि द्वारा पहुँचते उन से सुख होता है पर पैखाना में जाने से दुर्गन्धलगता जो हानिकारक है वैसे ही मूर्ख के संग से मनुष्य को दुःखदायी दुर्गुण प्राप्त होते हैं किन्तु वन पर्वतादि में जंगली जीवों के संसर्ग में वैसे दोष न नहीं लगते हैं ॥

शास्त्रोपस्कृतशब्दसुन्दरगिरः शिष्यप्रदेयागमा-

विख्याताः कवयो वसन्ति विषये यस्य प्रभोर्निर्धनाः ।

तज्जाड्यं वसुधाधिपस्य कवयो ह्यर्थं विनापीश्वराः—

कुत्स्याः स्युःकुपरीक्षकाहि मणयो यैरर्प्यतः पातिताः ॥ १५ ॥

(शास्त्रोपस्कृतेत्यादि) शास्त्रों के शब्दों से जिन की वाणी सुन्दर है शि-
ष्यों के देने योग्य जिन के पास विद्या है ऐसे सुप्रसिद्ध विद्वान् कवि जिसके
देश में निर्धन हुए दुःखी रहते हैं वह राजा सुख है और कविजन तो विना
धन के भी उत्तम ही हैं क्योंकि जिन्होंने मणिपों का असल मूल्य घटा दिया
है वे परीक्षक (बौहरी) ही खांटे हैं किन्तु मणि किसी प्रकार दूषित नहीं ॥

राजादि श्रीमानों को योग्य है कि श्रेष्ठ विद्वानों का सदा आदर सत्कार
समागम किया करें ऐसा न करने से विद्या वा धर्म सम्बन्धी प्रकाश से शून्य रह
कर राजादि की ही हानि है ॥ १५ ॥

हर्तुर्याति न गोचरं किमपि शं पुष्पाति यत्सर्वदा—

ह्यर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानमनिशं प्राप्नोति वृद्धिं पराम् ।

कल्पान्तेष्वपि न प्रयाति निधनं विद्याख्यमन्तर्धनं—

येषां तान्प्रति मानमुज्झत नृपाः कस्तैः सह स्पधन्ते ॥ १६ ॥

(हर्तुर्यातीति) जो हरने [पढ़ने] वाले को नहीं दीख पड़ता, सर्वदा
कुछ कुछ बढ़ाता, विद्यार्थियों को देने पर भी बहुत बढ़ता और कल्पान्त—
प्रलय समय में भी जिस का नाश नहीं होता ऐसा छिपा हुआ विद्यारूपी धन
जिन के पास है, हे राजा लोगो ! उन से अभिमान छोड़कर वर्तों । क्योंकि
उन की बराबरी कौन कर सकता है ? उन ऐसे परीक्षक विद्वानों के साथ
बुद्ध्यादि देने वाले अपने कुछ के मूल विद्या धर्मादि शुभ गुण से ही
हैर्ष्या करता जानो ॥ १६ ॥

अधिगतपरमार्थान् पण्डिताः भावमस्था—

स्वणमिव लघुलक्ष्मीनैव तान् संरुणद्धि ।

अभिनवमदलेखाश्यामगण्डस्थलानां—

न भवति विसतन्तुर्वारणं वारणानाम् ॥ १७ ॥

(अधिगतपरमार्थान् इति) जिन को परम अर्थ (मोक्ष) पर्यन्त की

सामग्री प्राप्त है ऐसे विद्वानों का निरादर मत करो । क्योंकि उन्हें तुम्हारी दृष्टयत् तुच्छ लक्ष्मी नहीं रोक सकती है । इस में दृष्टान्त है कि जैसे महामत्त गजराज को कमल की नालका सूत नहीं बांध सकता ॥

अर्थात् श्रेष्ठ विद्वानों ज्ञानियों योगियों तथा ऋषियों के सामने धर्मादि ऐश्वर्य का अभिमान कभी किसी को नहीं करना चाहिये । जिस धनादि ऐश्वर्य को सृष्टि के समान जो तुच्छ समझते हैं उस के लालच में जो नहीं फसते वेही ज्ञानी वा योगी कहे जाते हैं । वे ऐश्वर्य के द्वारा किसी श्रीमान् के वशीभूत नहीं हो सकते इन लिये यदि कोई श्रीमान् उक्त प्रकार के महादशाओं के बद्ध से अपना कल्याण चाहना हो तो उन के सामने धन के अभिमान को सर्वथा त्याग के उन की भक्ति वा सेवादि करे ॥ १७ ॥

अम्भोजिनीवननिवासविलासमेव, हंसस्य हन्ति

नितरां कुपितो विधाता । नत्वस्य दुग्धजलभेद-

विधौ प्रसिद्धां वैदग्ध्यकीर्त्तिमपहर्त्तुमसौ समर्थः ॥ १८ ॥

(अम्भोजिनीत्यादि) यदि विधाता हंस पर क्रोध करे तो उस के कमल-वन में रहने के आनन्द को तो नष्ट कर सकता है परन्तु उस के दूध और जल को पृथक् करने के प्रसिद्ध चातुर्य और उस से होने वाले यश के नाश करने में विधाता भी असमर्थ है ॥

प्रयोजन यह है कि राजादि श्रीमान् पुरुष भी ऋषि महर्षि विद्वान् को अपने देश से निकाल सकता है ॥ (को विदेशः सुविद्यानाम्) अच्छे विद्यावानों का कोई विदेश नहीं रहता इस से राजादि लोग विद्वान् को कुछ कष्ट नहीं दे सकते परन्तु विद्या से होने वाले परमानन्द और उस की कीर्त्ति में कुछ भी बाधा नहीं डाल सकता इस लिये विद्वान् से नमना ही राजादि का परम कर्तव्य है ॥ १८ ॥

केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला-

न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालङ्कृता मूर्धजाः ।

वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते-

क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ॥ १९ ॥

(केयूर इति) केयूर [बाजूबन्द] चन्द्रता की तुल्य उज्ज्वल मोतियों का हार, स्नान, चन्दन, पुष्पमालादि का धारण और संचारें हुए केश पुरुष को भूषित नहीं कर सकते—किन्तु संस्कारयुक्त वाणी ही पुरुष को अलङ्कृत कर सकती है—श्योंकि वस्त्रादि आभूषण नष्ट होने वाले हैं पर वाणीरूप भूषण ही सदा भूषण है ॥

इन लिये विद्या द्वारा वाणी को शुद्ध करके वाणी से सत्य, प्रिय, सबका हितकारी वचनबोलना और वेदादिशास्त्र के अध्यापनरूप परम धर्म का सेवन करना चाहिये इससे सब प्रकार की शोभा बढ सकती है अर्थात् कठोर, निर्याभाषण चुगली, अनर्गल वा व्यर्थ अधिक बोलना ये वाणी के चार दोष जिसमें होते हैं उन के अन्य सबभूषणों की शोभा अच्छे लोगों में भी प्र ही बिगड़ जाती है ॥१९॥

विद्यानाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं-

विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरुणां गुरुः ।

विद्या बन्धुजनोविदेशगमने विद्या परं दैवतं-

विद्या राजसु पूजिता नहि धनं विद्याविहीनः पशुः ॥२०॥

(विद्येत्यादि) विद्या मनुष्य का उत्तमरूप और छिपा हुआ धन है—विद्या ही भोग, यश और सुख देने वाली है—विद्या गुरुजनों का भी गुरु है—विदेशमें विद्या ही भाई के समान सहायकारिणी होती है। विद्या ही परम देवता है राजाओं में विद्या की ही पूजा होती है धन की नहीं। इतने गुणों को चिह्न करने वाली विद्या जिस मनुष्य के पास नहीं वह साक्षात् पशु है ॥

जिस कला की विद्या नाम ज्ञान—सत्यासत्य को समझने की योग्यता जिस में होती है उस को वैसा ही भोग तथा कीर्ति वा प्रतिष्ठा का सुख मिलता है इससे उत्तम उच्च कला की विद्या प्राप्ति का उपाय मनुष्य को करना चाहिये ॥२०॥

क्षान्तिश्चेत्कवचेन किं किमरिभिः क्रोधोऽस्ति चेद्देहिनां-

ज्ञातिश्चेदनलेन किं यदि सुहृद्दिव्यौषधैः किं फलम् ।

किं सपर्यदि दुर्जनाः किमु धनैर्विद्यानवद्या यदि-

ग्रीवा चैत्किमु भूषणैः सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम् ॥२१॥

(क्षान्तिश्चेदिति) जिस पुरुष में क्षमा है उस की कवच से क्या ? जिसमें क्रोध है उसे शत्रु की क्या आवश्यकता है ? जिस की जाति (विरादरी) है उसकी अग्नि से क्या प्रयोजन ?—जिस का हृदय अच्छा शुद्ध निर्दोष है उसे दिव्य श्रौषधों से क्या प्रयोजन ? जिस के साथ दुष्टजन विद्यमान हैं उस की सर्प और अधिक क्या हानि कर सकते हैं ?—जिम के पास निर्दोष मिट्टा है उसे धनोपावर्जन क्यों करना ?—जो लज्जावान् है उसको अन्य भूषण से क्या प्रयोजन ? जो सुन्दर कविता कर सकता है उस की दृष्टि में राज्य क्या पदार्थ है ? अर्थात् कुछ नहीं, समा ही सब ने बड़ा रत्नक, क्रोध ही सब से बड़ा शत्रु, कुटुम्बी लोग ही सब से अधिक जलाने वाले, हृदय की शुद्धि ही सब उपद्रवों से बचने का हेतु, दुर्जन ही अत्यन्त दुःखदायी, विद्या ही सर्वोपरि धन, लज्जा ही सर्वोपरि शोभा और अच्छी कविता शक्ति ही राज्य से भी बड़ी है ॥

अर्थात् क्षमा आदि से कवचादि की अपेक्षा रक्षादि कार्य अधिक सिद्ध हो सकते हैं इस लिये क्षमादि की अवश्य धारण करना चाहिये इन्हीं गुणों से कवचादि वाले क्षत्रियादि की अपेक्षा ब्राह्मण बड़ा व श्रेष्ठ ठहर जाता है ॥२१॥

दाक्षिण्यं स्वजने दद्या परजने शाठ्यं सदा दुर्जने—

प्रीतिः साधुजने नयो नृपजने विद्वज्जनेष्वार्जवम् ।

शौर्यं-शत्रुजने क्षमा गुरुजने नारीजने धूर्तता—

ये सर्वं पुरुषाः कलासु कुशलास्तेष्वेव लोकास्थितिः ॥२२॥

(दाक्षिण्यमिति) अपने सम्बन्धियों वा भूत्यादि के साथ सरलता, दूतरी पर दया, दुर्जन के पक्ष कठोर वर्ताव, सज्जनों में प्रीति, राजसभा में चिन्तय, पवित्र जनों के साथ सीधापन, शत्रुओं में शूरता, पूज्यजनों में क्षमा, और (जो व्यभिचारादि में फँस कर कुटिल हों ऐसी) स्त्रियों के साथ धूर्तता करना इस प्रकार की कला (गुणों) में जो पुरुष निपुण हैं उन्हीं के आश्रय संचार की स्थिति है ॥

अर्थात् ऐसे आचरण से निर्विघ्न संचार का कान चलता है इस से विचारशील पुरुषों की ऐसा ही श्रेष्ठ वर्ताव सदा करना चाहिये ॥ २२

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्य—

मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति ।

चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं —

सत्सङ्गतिः कथय किन्त करोति पुंसाम् ॥ २३ ॥

(शाक्यमिति) वृद्धि की जड़ता को दूर करती, सचन में सचाई को भरती, प्रतिष्ठा को बढ़ाती, दुष्कर्म को निवृत्त करती, चित्त को प्रसन्न करती और सर्वत्र यश को फैलाती है—कहो वह कौन सी भलाई है जिसे सत्सङ्गति सिद्ध नहीं करती ? अर्थात् सब भलाइयों का मूल सत्सङ्ग है ॥

इस लिये इस लोक और परलोक में जो लोग अपना कल्याण चाहें वे सत्सङ्ग अवश्य करें । जैसे किसी प्रकार के जलिन पदार्थों का सङ्ग करने से उस को दीप भी अवश्य लगते हैं । कउजनागरी कीठरी में जाकर कोई निर्दोष (वेदांग) निकल आये यह असम्भव है । इसी प्रकार सङ्गदोष अवश्य लगने के समान अच्छे सङ्ग के गुण भी अवश्य ही लगते और उस का सुधार भी यथायोग्य अवश्य ही होता है इस से सत्सङ्ग अवश्य करना चाहिये ॥ २३ ॥

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।

नास्ति येषां यशःकाये जराभरणजं भयम् ॥ २४ ॥

(जयन्तीति) ऐसे सुकृति [पुण्यात्मा] कवीश्वर लोग किंजो साहित्यशान्तोक्त आठों रसों में निद्वि प्राप्त किये हुये हों वे ही सब मनुष्यों में उत्तम हैं । क्योंकि उन के कीर्तिकपी देह में कभी जरा (बुढ़ापा) और मरण का भय नहीं होता ॥

सुविद्या ही संसार में मनुष्य की सर्वोत्तम कीर्ति को स्थापित रखने में सहाय है तु है इस कारण यश चाहने वाले अष्ट विद्वानों से उत्तम विद्या प्राप्त करें ॥

सूनुः सच्यरितः सती प्रियतमा स्वामी प्रसादोन्मुखः—

स्निग्धं मित्रमवञ्चकः परिजनो निःक्लेशलेश मनः ।

आकाशो रुचिरः स्थिरश्च विभवो विद्यावदात्त मुखः—

तुष्टे विष्टपहारिणीष्टदहरी संप्राप्यते देहिनाम् ॥ २५ ॥

(सूनुरिति) जिस पर सर्वसुखों का स्वामी ईश्वर प्रसन्न होता वा जिसका मांग्य नाम प्रारब्ध अच्छा होता है उस को निम्न लिखित सुख सामग्री प्राप्त होती है । शुद्ध आचरण वाला पुत्र, पतिव्रता स्त्री, सदा प्रसन्न रहने वाला स्वामी, प्रेमी मित्र, सरलमन वाले कुटुम्ब के लोग, क्लेश से रहित मन, सु-

न्दर स्वरूप, चािस्थायी ऐश्वर्य और विद्या से शोभायमान मुक्त ॥

इन लिये ऐसा सुख चाहने वाले को उचित है कि ईश्वर की आज्ञा पालन रूप धर्म के सेवन तथा उसकी विशेष भक्ति और पूजा उपासना से पर-
मेश्वर को प्रसन्न करे ॥ २५ ॥

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यम्-
काले शक्त्या प्रदानंयुवतिजनकथामूकभावः परेषाम् ।
तृष्णास्रोतोविभङ्गो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा-
सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्थाः ॥ २६ ॥

(प्राणाघातादिति) सर्वसम्पत्त परस्पर अविरुद्ध सब शास्त्रों में सत्यवाक्य सहित कल्याण का मार्ग यह बताया गया है कि जीवहिंसा न करना, पराये धन हरने से मन को रोकना, सत्य बोलना, उचित समय पर यथाशक्ति दान करना, पराई स्त्रियों की बातें न करना और न झुनटना, तृष्णा के वेग को रोकना, गुरुजनों के आगे नम्र रहना और प्राणिमात्र पर दया करना ॥

यही सर्वतन्त्र सिद्धान्त के अनुसार सब अनुष्यमात्र के लिये एकसा कल्याण का मार्ग है । इन अहिंसादि में शास्त्रकारों का परस्पर कुछ भी मत भेद नहीं है सब की कसरतराय से यही कल्याण का मार्ग है ब्राह्मणादि वर्णों के भिन्न २ धर्म कर्म के साथ भी इन का सेवन करना अत्यावश्यक है । इन सामान्य व्यापक धर्माश्रों के सेवन किये बिना कहीं कभी किसी का कल्याण नहीं हो सकता ॥ २६ ॥

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः-

प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।

विघ्नैः सहस्रगुणितैरपि हन्यमानाः-

प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति ॥ २७ ॥

(प्रारभ्यत इति) क्षुद्र (तनीगुणी) लोग विघ्न के भय से किसी सकार्य को आरम्भ ही नहीं करते-मध्यम जन (रजोगुणी) आरम्भ तो कर देते हैं परन्तु विघ्न पड़ जाने से उस काम को बीच ही में छोड़ देते हैं । उत्तम (सा-

स्विक) लोग निरन्तर विघ्नों को सहारते हुए भी उस काम को बिना पूरा किया नहीं त्यागते ॥

क्योंकि उत्तम सज्जन पुरुष विचार पूर्वक आरम्भ करते और अन्तिम सु-स्वदायी परिणाम पर दृष्टि रखते हैं । इस कारण उत्तम बनने की इच्छा वालों को चाहिये कि जिन २ अच्छे धर्म सम्बन्धी कामों का आरम्भ करें उनको यह २ कष्ट पढ़ने पर भी धीरे में न छोड़ कर पूरे करें ॥ २७ ॥

असन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यः कृपाधनः-

प्रिया न्याय्यावृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरम् ।

विपद्युच्चैःस्थेयं पदमनुविधेयं च महतां-

सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधारात्रतमिदम् ॥ २८ ॥

(असन्त इति) सत्पुरुषों को चाहिये कि सुदुश्मनों से याचना न करें, न निर्धन मित्र से कुछ मांगें-किन्तु न्यायानुकूल चित्त को प्रसन्न करने वाली जीविका करें, प्राण जाने की भय से भी छोटा-या कठिन [चित्त को मलिन करने वाला] काम न करें, विपत्ति में भी कड़े बने रहें किन्तु घबराकर अपनी गम्भीरता को न छोड़ें-और उत्तम जनों के आचरण को धारण किये रहें इस प्रकार तलवार की धार से भी तीक्ष्णव्रत [नियमपालन] का उपदेश उन के लिये किमने किया है ? अर्थात् किसी ने नहीं यह सज्जनों का स्वाभाविक ही गुण है ॥

इस लिये जिस को सज्जनकोटि में प्रविष्ट होना अभीष्ट हो वह उक्त प्रकार के सज्जनों के गुण धारण करे ॥ २८ ॥

क्षुत्क्षामोऽपि जराकृशोपिशिथिलप्रायोऽपि कष्टां दशां-

मापन्नोऽपि विपन्नदीधितिरपि प्राणेषु नश्यत्स्वपि ।

मत्तेभेन्द्रविभिन्नकुम्भकवलग्रासैकवदुस्पृहः-

किं जीर्णं लुगयत्तिमानमहतामग्रेसरः केसरी ॥ २९ ॥

(क्षुत्क्षामोपीति) भूख से दुर्बल, सुदृढ से दुर्बल, पराक्रम से हीन, शोचनीय-दशा को प्राप्त, तेजरहित, और जिस के प्राण निकलने की दशा हो रही है ऐसी, मत्त हाथी के मस्तक के साँस के ग्रास की चाह करने वाला और अभिमानियों में अग्रगता-गिंह-वया मूखी घास को खाया ? कदापि नहीं ॥

इस से आशय यह है कि महान् पुरुष महती विपत्ति में भी अयोध्य वृत्ति से जीवन् करना नहीं चाहते । इस लिये महान् पुरुषों के आचरणों में निष्ठा रखने वालों को किसी कठिन दशा [हालत] में भी जीवन्ना देने वाले नीच काम की ओर न झुकना चाहिये ॥ २९ ॥

स्वल्पं स्नायुवसावशेषमलिनं निर्मांससमप्यस्थि गोः-

श्वा लब्ध्वा परितोषमेति न तु तत्तस्य क्षुधाशान्तये ।

सिंहो जम्बुकमङ्कमागतमपि त्यक्त्वा निहन्ति द्विपं-

॥ सर्वः कृच्छ्रगतोऽपि वाञ्छति जनः सत्त्वानुरूपं फलम् ॥ ३० ॥

(स्वल्पमिति) स्नायु और बर्बा में सने हुये मांसरहित बैल की हड्डी के छोटे से टुकड़े को पाकर श्वान [कूकर] बहुत प्रसन्न होता है यद्यपि वह हाड़ से स कुत्ते की भूख को दूर नहीं कर सकता, और सिंह अपनी गोद में आये हुये ऋगाल को भी छोड़ देता और हस्ती को मारना चाहता है ॥

हम से यह तात्पर्य है कि सब कोई दुःखी होने पर भी अपनी शक्ति के अनुसार ही फल चाहता है—अल्प से वस नहीं होता अर्थात् सज्जन लोग भी अपनी सज्जनता को कभी नहीं छोड़ते और छोड़नी भी नहीं चाहिये ॥ ३० ॥

लाङ्गूलचालनमधश्चरणावपातं-

भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनञ्च ।

श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुङ्गवस्तु-

धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते ॥ ३१ ॥

(लाङ्गूलेति) कुत्ता टुकड़ा देने वाले के आगे पूँछ हिलाता, पैरों पर गिरता पृथ्वी पर लोटकर मुख और पेट दिखाता है। परन्तु हस्ती अपने को भोजन देने वाले की ओर धीरता से देखता जाता और भूम भूमकर खाता जाता है । आशय यह है कि तुच्छ अनुष्य अपने वृत्तिदाता की सौख्य सुशान्ति और चापलुमी करते हैं—परन्तु महान् पुरुष बड़ी गम्भीरता से वर्तते हैं ॥

इस लिये अनुष्य की निकम्मे ही के सुशागदी न होना चाहिये किन्तु गम्भीरता वृत्ति लाभक धर्म का धारण करना सबकी प्रतिष्ठा का हेतु है ॥ ३१ ॥

स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ।

परिवर्त्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ॥ ३२ ॥

(स जात इति) इस जगत् में वही मनुष्य जन्मा है कि जिसको जन्मनेसे वंश की चन्तिही—नहीं तो चक्र [गाढ़ी के पहिये] के सनान सदा घूमने वाले संसार में सभी मरते और जन्मते हैं ॥

अर्थात् सुख्य वा अन्तरङ्ग होने के कारण मनुष्य को पहिले ऐसे काम करने चाहिये जिन से अपने वंश की प्रतिष्ठा, सुखोन्नति और गौरव बढ़े जिसने अपना ही सुधार न किया वह जगत् को क्या सुधार सकता है ? ॥ ३२ ॥

कुसुमस्तवकस्येव द्वे गती स्तो मनस्विनाम् ।

मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य विशीर्येत वनेऽथवा ॥ ३३ ॥

(कुसुमेति) पुष्पों के गुच्छे की नाईं मनस्वी (दृढ़ विचार वाले वीर) पुरुषों को दो प्रकार की गति रहती है । या तो सब के शिर पर बिराजते हैं—नहीं तो वन में ही सूख जाते हैं ॥

अर्थात् विचारशील मनुष्य को दो ही रीति पर जन्म व्यतीत करना चाहिये वा अच्छे ज्ञानी लोग स्वभाव से ही इन दो में से किसी मार्ग पर चलने हैं किन्तु अधोगति में नहीं पड़े रहते। यदि संसार में रहते हैं तो ऐसे काम करते हैं जिससे सब कोई प्रतिष्ठा देता और परमार्थ चाहते हैं तो वन में जाकर तप करते हैं ३३

सन्त्यन्येऽपि बृहस्पतिप्रभृतयः सम्भाविताः पञ्चश-

स्तान्प्रत्येष विशेषविक्रमरुची राहुर्न वैरायते ॥

द्वावेव ग्रसते दिनेश्वरनिशाप्राणेश्वरौ भास्वरौ ।

भ्रातः ! पर्वणि पश्य दानवपतिः शीर्षावशेषी कृतः ॥ ३४ ॥

(मन्तीति) यद्यपि बृहस्पति आदि अन्य भी पांच यह आकाश में हैं परन्तु अधिक पराक्रम की रुचि करने वाला राहु उन से वीर नहीं करता, हे भ्रातः ! देखो अनावध और पूर्णमासी को जिस का शिरसात्र शेष रह गया है ऐसा राहु—पूर्ण तेज वाले सूर्य और चन्द्रमा को ही ग्रसता है ॥

कवि ने इससे यह सिद्ध किया है कि दुर्जन मनुष्य अपने पराक्रम की उत्कृष्टता दिखाने के निमित्त तेजस्वी लोगों से ही वीर बांध बैठते हैं। क्योंकि इस से उन की प्रसिद्धि होती है उज्जैन पुरुषों को ऐसा न करना चाहिये ॥ ३४ ॥

ब्रह्मि भुवनश्रेणीं शेषः फणाफलकस्थिताम्—

कमठपतिना मध्ये पृष्ठे सदा स विधाय्यते ॥

तमपि कुरुते क्रोडाधीनं पयोधिरनादरा—

दहह ! महतां निस्सीमानश्चरित्रविभूतयः ॥ ३५ ॥

(ब्रह्मतीति) शेषजी ने अपने फण पर सारे भुवनों को धारण किया है—उस शेष को भी कच्छप ने अपनी पीठ पर धारण किया उस कच्छप को भी समुद्र ने आदर से बराह को आधीन किया—इस पुराणों की कथा के दृष्टान्त से भर्तृहरि जी यह सिद्ध करते हैं कि महापुरुषों के कर्म और ऐश्वर्य भी नष्ट हो जाते हैं ॥

महात्माओं की अवधि या बाह्र सब को नहीं मिल सकती इसी कारण वे महात्मा नान मद्भान् बड़े गरभीर अगाध विचार वाले कहते हैं ॥ ३५ ॥

वरं पक्षच्छेदः समदमघवन्मुत्कलिश—

प्रहारैरुद्धच्छुद्धलदहनोद्गारगुरुभिः ॥

तुषाराद्रेः सूनोरहह ! पितरि क्लेशनिवर्धे—

नचासौ सम्पातः पयसि पयसां प यूरुचितः ॥ ३६ ॥

(वरानिति) इन्द्र के वज्रजन्य अग्नि से भस्म होकर मर जाना अच्छा या—परन्तु अपने पिता हिमालय को दुःख में डोढ़ कर जैनास को उचित न या कि अपनी रक्षा के लिये समुद्र में जा पड़ता ॥

आशय यह है कि सन्तान को उचित नहीं कि माता पिता को दुःखित डोढ़ कर आप खुशी हो बैठे क्योंकि धर्मशास्त्र के सिद्धान्त से माता पिता या आचार्य की सेवा करना ही पुत्र का परमधर्म है ॥ ३६ ॥

यदचेतनोऽपि जादेः स्पष्टः प्रज्वलति सवितुरिनकान्तः ।

तसेजस्वो पुरुषः परकृतिविकृति कथं सहते ॥ ३७ ॥

(यदिति) यद्यपि सूर्यकान्त मणि अचेतन (जड़) है तथापि सूर्य के किरण रूप चरकों से लुप्तमाने पर जल उठता है—तो सचेतन तेजस्वी पुरुष अन्य नीच पुरुष में हुए अनादर को क्योंकि सहार सकता है ? ॥

अर्थात् यदि दृष्ट को दृष्ट देने का सामर्थ्य न हो तो उसने उदासीन हो जाना चाहिये परन्तु दृष्ट के आधीन सत्जन को कभी न रहना चाहिये ॥ ३७ ॥

सिंहः शिशुरपि निपतति मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु ।

प्रकृतिरियं सत्त्वव्रतां न खलु वयस्तेजसो हेतुः ॥३८॥

(सिंहइति) यद्यपि सिंह का बच्चा देखने में छोटा हो तो भी मदवाले हस्ती को मारने के लिये कपट के दौड़ता है। तेज वालों का यह स्वभाव ही है कुछ तेज का कारण प्रव्रस्था नहीं है ॥

अर्थात् सज्जनता की प्रकृति वाले मनुष्यादि प्राणियों के बालकों में भी वैसे स्वभाव होता है इस से संस्कार रूप क्रियमाण सारय गुण की अपेक्षा स्वाभाविक जातीय सिद्धगुण की प्रबलता जतायी है इस से (संस्कारात्प्रबलाजातिः) इन नीति के सिद्धान्त को यहां पुष्ट किया जानो। सो यह धर्मशास्त्रों के अनुसार जाति से वर्णव्यवस्था सिद्ध होने की प्रबल युक्ति सब विद्वानों के सम्मत ही है ॥ ३८ ॥

अथ द्रव्यप्रशंसा ॥

जातिर्यातु रसातलं गुणगणस्तस्याप्यधो गच्छतात्—

शीलं शैलतटात्पतत्वभिजनः सन्दह्यतां वह्निना ।

शौर्यं वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वथोस्तु नः केवलम्—

येनैकेन विना गुणास्तृणलवप्रायाः समस्ता इमे ॥३९॥

(जातिरिति) चाहे ब्राह्मणादि जाति पाताल को चली जाय, समस्त गुण उस से भी नीचे चले जावें और शील भले ही पर्वत से गिर कर नष्ट हो जाय तथा कुलीनता अग्नि से जल जावे, और शूरता [बहादुरी] के ऊपर वज्र-विजुली गिरपड़े। परन्तु हमें केवल द्रव्य से प्रयोजन है कि जिस के बिना सब गुण तृण के भी छोटे टुकड़े के समान हो कर निरर्थक हो जाते हैं। अर्थात् एक धन के न होने से जाति के लोग प्रतिष्ठा नहीं करते, गुण भी अवगुण से दीखने लगते हैं, शील को कोई नहीं पूकता, कुदुस्व के लोग बात नहीं करते और शूरवीरता व्यर्थ हो जाती है। तात्पर्य यह कि संसार सम्बन्धी कोई काम धन के बिना नहीं चलता ॥

अभिप्राय यह है कि धर्मानुकूल धन का उपार्जन संचारी मनुष्य को प्रवृत्त करना चाहिये। धन के बिना जाति आदि प्रतिष्ठा के हेतु नहीं यह

समयानुसार सिद्धानुवाद है [कि धन को बड़ा वा सर्वोत्तम मानने वाले संसारी लोग ऐसा मानते हैं । किन्तु धर्म वा विद्या को बड़ा मानने वाले परमार्थी परीक्षक लोगों का यह सिद्धान्त नहीं है] किन्तु विधिवाक्य नहीं । विधि यह है कि विद्यावान् की [निर्धनदशा में भी] सर्वोपरि प्रतिष्ठा होनी चाहिये सो यह धर्मशास्त्र नहीं इसीलिये यहां विधिवाक्य कहने की आवश्यकता नहीं है नीति के अनुसार सिद्धानुवाद कहना ही उचित है ॥ ३९ ॥

तानीन्द्रियाणि सकलानि तदेव कर्म—

सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव ।

अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव—

त्वन्धः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत् ॥ ४० ॥

(तानीति) मनुष्य की वे ही इन्द्रियां हैं वही व्यवहार है वही बुद्धि है और वचन भी वही है परन्तु एक धन की गमी न रहने से मनुष्य क्षणमात्र में और का और ही हो जाता है ॥

आशय यह है कि यद्यपि इन्द्रियादि सामग्री पूर्ववत् वही है परन्तु धनहीन होने से लोगों की दृष्टि में पूर्ववत् उस का गौरव नहीं रहता । यह भी सिद्धानुवाद संसार की मौजूदा हालत को नीत्यनुसार दिखाता है । धर्मशास्त्र की न्यायानुसार विधि यह होना चाहिये कि यदि वह धर्मात्मा गुणी वा विद्वान् हो तो उस की प्रतिष्ठा और गौरव धनहीन दशा में भी रहना चाहिये ४०। यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः, स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः।

स एव वक्ता स च दर्शनीयः, सर्व गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति ॥ ४१ ॥

(यस्यास्ति) जिस मनुष्य के पास धन है वही अच्छे कुल वाला, बुद्धिमान, शास्त्रवेत्ता, गुणी, वक्ता और सुन्दर रूपवान् समझा जाता है । इस से यह सिद्ध होता है कि सब गुण द्रव्य के आश्रित हैं ॥

अर्थात् उक्त गुणों को धन के बिना संसारी व्यवहार में कोई नहीं पूछता यह भी सिद्धानुवाद है किन्तु विधिवाक्य नहीं अर्थात् ग्रन्थकर्ता का यह आशय नहीं है कि धनहीन को कुलीनतादि से प्रतिष्ठा न मिलनी चाहिये किन्तु जगत में गतानुगतिक [भेड़िया घसान] दशा के अनुसार सर्वसाधारण लोग धन को ऐसी प्रधानता देते हैं कि धन के न होने पर कुलीनतादि को

कुछ भी नहीं सम्भक्ते और खुशामदी लोग धन वाले में सब गुण ठहरा देते हैं यह संसारी मनुष्यों का दोष है शास्त्र का नहीं ॥ ४१ ॥

दौर्मन्त्र्यान्नुपतिर्विनश्यति यतिः सङ्गात्सुतो लालना-
द्विप्रोऽनध्ययनात्कुलं कुतनयाच्छोलं खलोपासनात् ॥

हीमद्यादनवेक्षणादपि कृषिः स्नेहः प्रवासाश्रया-

न्मैत्रीं चाप्रणयात्समृद्धिरनयात्त्यागात् प्रमादादुनम् ॥४२॥

(दौर्मन्त्र्यादिति) खोटी सलाह से राजा, अधिक मेल जोल से संन्यासी, लाड़ प्यार से पुत्र, विद्या न पढ़ने से ब्राह्मण, दुष्ट सन्तान से कुल, दुष्ट पापी के सङ्ग से शील, मदिरा पीने से लज्जा, नित्य न देखने से खेती, विदेश में अधिक रहने से स्नेह, अधीनगी के बिना मित्रता, अनीति से धन संपत्त और अधाधुन्य विरक्तता तथा प्रमाद वा भूल से धन नष्ट हो जाता है ॥

इसलिये राजादि मनुष्यों को खोटी सलाह आदि से सदा वचना चाहिये ॥४२॥

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।

यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥४३॥

(दानमिति) दान देना, भोग लेना और नाश हो जाना । ये तीन भाग धन के निकलने के हैं । जो पुरुष धन को न दान करता और न भोगता है—उस के धन की तीसरी गति (नाश) अवश्य होती है ॥

इस लिये धनी पुरुष को चाहिये कि सञ्चित किये धन से स्वयं कुछ भोगे और सुपात्रों को दान देवे तथा परोपकारी धर्मसम्बन्धी और यज्ञादि तथा देवमन्दिर देवपूजा वालों को कुआँ तालाब बनवाना और अनाथ दीनों की रक्षा रूप स्मार्त्त कामों में धन को लगावे ॥ ४३ ॥

मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिनिहतो-

मदक्षीणो नागः शरदि सरितः स्त्यानपुलिनाः ।

कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता वालललना-

तन्निम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु जनाः ॥४४॥

(मणिरिति) इतनों की शोभा अधिक कशता से ही होती है—सान पर घिसे हुए हीरे की कशता से घायल की, मद से उतरे

हस्ती की, शरद् ऋतु में अरुण जलवाली नदी की, द्वितीया के चन्द्रमा की, रति से पीड़ित हुई वाला स्त्री की और अतिदान से निर्धन हुए पुरुष की शोभा है ॥

आशय यह है कि इतनों की दुर्बलता वास्तव में दुर्बलता नहीं किन्तु उन २ कार्यों के सिद्ध करने से उन २ की सार्थकता हो कर शोभा है इसलिये उन २ के स्वरूप को घटाने वाले होने पर भी ऐसे २ काम कर्तव्य है ॥ ४४ ॥

परिक्षीणः कश्चित्स्पृहयति यवानां प्रसृतये—

स पश्चात्सम्पूर्णः कलयति धरित्रीं तृणसमाम् ।

अतश्चानैकान्त्याद्दुःखलघुतयार्थेषु धनिना—

मवस्था वस्तूनि प्रथयति च सङ्कोचयति च ॥ ४५ ॥

(परिक्षीण इति) जब कोई मनुष्य अत्यन्त गिरी हुई दशा में होता है तो एक लप भर जी की इच्छा करता है । पुनः वही पुरुष जब अति धनाढ्य हो जाता है तो पृथिवी को भी तृण समान गिनने लगता है । इस कारण ये दोनों अवस्था ही पुरुष को बड़ा और छोटा बनाती तथा वस्तुओं को भी फैलाती और सङ्कुचित करती हैं ॥

तारपय्यं यह है कि जब समयानुसार मनुष्य की दशा बढ़ती है तो इस की इच्छा और सङ्कल्पविकल्प भी बढ़ते जाते हैं । न्यून होने पर इच्छादि सब शिथिल पड़ जाते हैं इस लिये विचारशील पुरुष शान्ति के साथ अवस्था वा दशा के अनुसार धर्म पर चलते हुए ही अपना निर्वाह करें ॥ ४५ ॥

राजन् ! दुधुक्षसि यदि क्षितिधेनुमेतां—

तेनाद्य वत्समिव लोकममुं पुषाण ॥

तस्मिंश्च सम्यगनिशं परिपोष्यमाणे—

नानाफलैः फलति कल्पलतेव भूमिः ॥ ४६ ॥

(राजन्निधि) हे राजन् ! यदि पृथिवीरूप गौ की अच्छे प्रकार दुहा चाहते हो तो बल्लड़ा रूपी प्रजा को मली भांति पोषण करो । क्योंकि जब प्रजारूप बल्लड़ा निरन्तर पुष्ट किया जायगा तभी यह भूमि कल्पलता की भांति नानाप्रकार के फल फूलों से फलेगी ॥

सारांश यह है कि जो राजा नीति २ के पदार्थों से सुखा हुआ चाहता है उसे तन मन, धन से प्रजा को प्रसन्न रखना परमावश्यक है—ऐसा किये बिना राजा को सुख होना असम्भव है ॥ ४६ ॥

सत्यानता च परुषा प्रियवादिनी च—

हिंसा दयालुरपि चाथपरा वदान्या ।

नित्यव्यया प्रचुरनित्यधनागमा च—

वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा ॥ ४७ ॥

(सत्येति) राजा लोगों की नीति एक प्रकार की नहीं रहती किन्तु समयानुसार अनेक रङ्ग बदलती रहती है इस बात की चेष्टा के दृष्टान्त से कहते हैं—

राजाओं की नीतिक ही सच्ची कहीं झूठी, कहीं कठोर और कहीं नीठाबोलने वाली, कहीं हिंसा कराने वाली और कहीं दया कराने वाली, कहीं लोभ से भरी हुई और कहीं उदारता दिखाने वाली और बहुतायत व्यय कराने वाली और कहीं सज्जय कराने वाली चेष्टा के समान अनेकरूप धारण करती है

अर्थात्—समय के अनुसार जिस रीति से धर्मार्थ काम मोक्ष की सिद्धि हो और प्रजा सुखी रहे वैसी नीति राजा लोगों को वक्तनी चाहिये ॥ ४७ ॥

विद्या कीर्त्तिः पालनं ब्राह्मणानां दानं भोगो मित्रसंरक्षणञ्च ।

येषामेते षड्गुणा न प्रवृत्ताः कोऽर्थस्तेषां पार्थिवोपाश्रयेण ४८

(विद्येति) १ विद्यालाभ २ यशःप्राप्ति, ३ ब्राह्मणों का पालन, ४ दान करना, ५ स्वयं पदार्थों को भोगना, ६ मित्रों की रक्षा करना ये छः गुण जिन में नहीं आये उन पुरुषों को राजा के यहां अधिकार पाने का क्या फल हुआ ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥

आशय यह है कि राज्य में अधिकार पाकर जिस मनुष्य ने उक्त ६ गुणों में से कुछ भी प्राप्त न किया उस के अधिकार को चिक्कार है इस लिये धर्मात्मा विचारशीलों को उचित है कि धर्म को आगे रखके चलते हुये राज्य में प्रवेश होने पर वहां सुगमता से होने योग्य विद्यादि का लाभ अवश्य करें ॥ ४८ ॥

यद्वाङ्मा निजभालपट्टलिखितं स्तोकमहद् वा धनं

तत् प्राप्नोति मरुस्थलेऽपि नितरां मेरौ ततो नाधिकम् ।

तद्वीरो भव वित्तवत्सु कृपणां वृत्तिं वृथा मा कृथाः—

कूपे पश्य पयोनिधावपि घटो गृह्णाति तुल्यं जलम् ॥४९॥

(यदिति) घोड़ा वा बहुत जो कुछ घनादि द्वारा सुख मिलना विधाता ने मस्तक में लिख दिया है ऊपर भूमि में और सुमेर पर्वत पर जाने से भी वह न्यूनाधिक नहीं हो सकता—इस लिये धीरज धरो और धनवानों के पास जाकर व्यर्थ याचना मत करो । क्योंकि देखो घड़ा कूप तथा ममूद्र में से बराबर ही जल ग्रहण करता है कि जितना उन में समा सकता है ॥

इस से कविने यह सूचित किया है कि गवित्त धनवानों के पास जाकर मांगना अत्यन्त नीचकर्म है—इसे छोड़ विशेष कर ब्राह्मणों को सन्तोष वा तप करना चाहिये जिस के द्वारा अत्यन्त सुख मिले ॥ ४९ ॥

त्वमेव चातकाधारोसीति केषां न गोचरः ? ।

किमम्भोदवरास्माकं कार्पण्योक्तिं प्रतीक्षसे ? ॥५०॥

(त्वन्निति) हे मेघवर ! यह बात कौन नहीं जानता कि तुम ही चातक पक्षियों के आधार हो । पुनः हमारे दीनवचनों की ओर क्यों निहार रहे हो—आश्रितों की आशा पूर्ण कीजिये ॥

तात्पर्य यह कि जो जिस के आधीन है उसे उचित है कि आश्रितों की दीन विनती के सुने बिना ही उन की पालना का ध्यान रखे क्योंकि जब उस को यह ज्ञात ही है कि अन्त में अधिक मांगने पर जब सुक को देने ही पड़ेगा क्योंकि इन लोगों के निर्वाह का भार ही सुक पर है तब विशेष मांगने पर उन को तंग करके देने की अपेक्षा बिना मांगे देने से मेरे गौरव की रक्षा विशेष है ऐसा होने पर आश्रित लोग मालिक का कान भी ठोक अद्भुत भक्ति से—कर सकते हैं । यह मालिक को शिक्षा दी गयी है ॥ ५० ॥

रे रे ! चातक ! सावधानमनसा मित्र ! क्षणं श्रूयता—

मम्भोदा वहवो हि सन्ति गगने सर्वेऽतु नैतादृशाः ।

केचिद्गृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद्गृथ्वा—

यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो माब्रूहि दीनं वचः ॥५१॥

(रे रे इति) अब याचक लोगों को पपीहा के वहाने से शिक्षा देते हैं

कि अरे पपीहा सावधानता से क्षणभर हमारा घबरा सुनले-कि आकाश में बादल बहुत हैं-परन्तु सब समान नहीं हैं। उनमें कोई तो वर्षा से पृथ्वी को पूर्ण कर देते हैं और कोई २ वृथा ही गर्जते हैं। इस कारण हे मित्र ! जिस जिसको तू देखता है उसी के आगे दीनता से जल के लिये मत पुकार ॥

तत्पर्य यह है कि संसार में सब धनी दानशील नहीं होते कोई तो मांगने वालों को सन्तुष्ट कर देते हैं और कोई व्यर्थ ही अपनी प्रशंसा करते हैं कि हम ऐसे हैं। इस कारण शिचारशील याचकों को उचित है कि सब के सामने हाथ न पसारें किन्तु सन्तोषवृत्ति को धारण करें ॥ ११ ॥

इति द्वयमशंसा ।

अथ दुर्जननिन्दा ॥

अकरुणत्वमकारणविग्रहः परधने परयोषिति च रुपहा ।

सुजनवन्धुजनेष्वसहिष्णुताप्रकृतिसिद्धमिदं हिदुरात्मनाम् ॥

(अकरुणत्वमिति) दुष्ट मनुष्यों में निम्नलिखित ६ अवगुण स्वाभाविक होते हैं । १ निर्दयीपना । २ बिना कारण और बांधना । ३ परधन की हव्वा । ४ पराई स्त्री की चाहना । ५ सज्जनों की बात को न सहारना । और ६ कुटुम्ब की बड़ाई न देख सकना ॥

सज्जन लोगों को ऐसे दुष्टों से सदा पृथक् रहना चाहिये अनेक लोग दुर्जन ऐसे होते जो ऊपर से घनावटी सज्जन दाखते हैं । तथा इन ६ में किसी एक दो प्रबल अवगुण से भी दुर्जन ही माने जावेंगे ॥

दुर्जनः परिहर्त्तव्यो विद्यायाऽलङ्कृतोऽपि सन् ।

मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयङ्करः ॥ ५३ ॥

(दुर्जनइति) यद्यपि दुर्जन मनुष्य विद्यावान् हो तो भी उस का त्याग करना उचित है क्योंकि मणि से भूषित सर्प क्या भय देने वाला नहीं होता अर्थात् अवश्य होता है ॥

अर्थात् विद्या रहित हो तो भी सज्जन पुरुष के साथ सब को मेल रखना चाहिये किन्तु विद्वान् दुष्ट के भी साथ नहीं ॥ ५३ ॥

जाडयं हीमति गण्यते व्रतरुचौ दम्भः शुचौ कैतवं-

शूरे निर्घृणता मुनौ विमतिता दैन्यं प्रियालापिनि ।

तेजस्विन्यवलिप्रता मुखरता वक्तव्यशक्तिः स्थिरे-

तत्की नाम गुणो भवेत्स गुणिनां यो दुर्जनैर्नाडकितः ॥५४॥

(जाह्न्यमिति) दुष्ट लोग-लज्जावान् को शिथिल, ब्रती को दम्भी, पवित्र को बदली, शूरको दयाहीन, घोड़ा घोलने वाले को मूर्ख, मीठा दोलने वाले को दीन, तेजस्वी को अहङ्कारी, वक्ताको बकवादी और शान्तचित्त को नि-
कम्मा कहते हैं । इससे प्रतीत होता है कि गुणियों के समस्त गुणों को दुर्ज-
नोंने कलङ्क लगाया है ॥

गुणी लोगों को चाहिये कि उन के गुणोंमें दुष्टपुरुष कितने ही कलङ्क
लगावें तथापि अपने भूषणरूप गुणों का त्याग न करें ॥ ५४ ॥

लोभश्चेदगुणेन किं ? पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः ?-

सत्यं चेत्तपसा च किं ? शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम् ? ॥

सौजन्यं यदि किं निजैः ? सुमहिमा यद्यस्ति किं मण्डनैः ?-

सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना ? ॥५५॥

(लोभश्चेदिति) यदि मनुष्य में लोभ है तो और अवगुण हों वा न हों ?
को निन्दक है उसे अन्य पाप करने की क्या आवश्यकता है ? सत्यवादी को
तप से क्या प्रयोजन ? शूद्र मन वाले को तीर्थों से क्या फल ? सज्जनों को
मित्र तथा कुटुम्ब वालों की क्या कमी है ? जिनका यश फैल रहा है उन्हें अन्य
भूषणों से क्या अर्थ है ? जिन में सद्विद्या है उन्हें धन से क्या करना है ?
जिन का अपयश हो रहा है वे जीते ही मरे के समान हैं ॥

अर्थात् जो लोभादि अवगुणों में सर्वोपरि प्रधान है वा जिस में लोभ है
उन में जानो सभी अवगुण विद्यमान हैं इस लिये लोभादि बड़े २ दोषों को
छोड़ना मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है ॥५५॥

शशो दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी-

सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः ॥

प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो-

नृपाङ्गणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ॥५६॥

(शशीति) महाराज श्रीभर्तृहरिजी कहते हैं कि ये ७ बातें हमारे मन में कांटे के समान दुःख देती हैं । १ दिन का मलीन चन्द्रमा । २ यौवन हीन नारी, ३ बिना कमल का तालाब । ४ सुरूपवान् अविद्वान् । ५ राजा धनका लोभी । ६ निर्धन सत्पुरुष । ७ राजसभा में दुष्टों का रहना ॥

अर्थात् मनुष्यों को ऐसा यत्न करना चाहिये कि जिस से ये अनुचित बातों बातें न हों वा कस हों ॥५६॥

न कश्चिच्चण्डकोपानामात्मीयो नाम भूभुजाम् ।

हीतारमपि जुह्वानं स्पृष्टो दहति पावकः ॥५७॥

(न इति) जैसे अग्नि होम करने वाले को भी झूने से जला ही देता है वैसे ही प्रबल क्रोधी राजाओं का भी कोई मित्र नहीं होता ॥

अर्थात् राजा और अग्नि का विश्वास किसी को कभी न करना चाहिये यह नीति का विचार साधारण संसारी मनुष्यों के लिये है किन्तु चोरी की शपथ में सत्य अग्नि से भी बचाता तथा उत्तम ईश्वर भक्तों को भी अग्नि नहीं जला सकता यह युक्ति प्रमाण दोनों से सिद्ध हो जायगा । जैसे सीता माता का अग्नि में प्रवेश हुआ पर नहीं जलीं वैसे ही प्रह्लादादि की जानकी यह उत्तम कोटि के विशेष (खास) देह धारियों के लिये सनाचार है ॥५७॥

मौनान्मूकः प्रवचनपटुश्चाटुलो जल्पको वा-

धृष्टः पार्श्वे वसति च तदा दूरतश्चाप्रगल्भः ।

क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः-

सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥५८॥

(मौनादिति) सेवक-चुप रहने से गुंगा, चतुराई के साथ बोलने से बाउला, या बकबादी, पास रहने से ढीठ, दूर रहने से निर्बुद्धि क्षमा करने से डरपोक, और न सहारने से नीचकुल का समझा जाता है-इस से प्रतीत होता कि सेवाधर्म ऐसा कठिन है कि योगियों से भी निम्नता असाध्य है ॥

अर्थात् स्वामी जो २ दोष बतावे उसको बिना उत्तर दिये मानता जाय और सदा स्वामी का हितचिन्तन करता रहे यही सेवक का धर्म है । ऐसा

सेवक जगत् में कोई धिरला ही हुआ करता है और जो ऐसा होता है उन को अच्छी चिह्नि भी आवश्यक प्राप्त हो जाती है ॥ ५८ ॥

उद्भासिताऽखिलखलस्य विशुद्धखलस्य,

प्राग्जातविस्तृतनिजाधमकर्मवृत्तेः ।

दैवादवाप्तविभवस्य गुणद्विषोऽस्य,

नीचस्य गोचरगतैः सुखमास्यते कैः ? ॥ ५९ ॥

(उद्भासितेति) जो अनेक दुष्टों को उभारने वाला, किमी की न जानने वाला, जिस के अपने किये पूर्वजन्म के बहुत नीचकर्म प्रकट हो रहे हैं, देवानुसार धन वाला भी है और सद्गुणों से बँर रखने वाला है इस प्रकार के नीच सन्तुष्य के वश में वा पाच रहकर कोई पुरुष दुखी नहीं रह सकता ॥

अर्थात् धन वा राज्यादि उत्तम सामान की प्राप्ति के लोभ में भी ऐसे दुष्ट पुरुष का स्वयं विचारशील धार्मिक सन्तुष्य की कदापि न करना चाहिये ॥ ५९ ॥

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण, लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात् ।

दिनस्य पूर्वार्द्धपरार्द्धभिन्ना छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ६०

(आरम्भेति) जैसे दुपहर के पहिले की प्रथम छाया बढ़ी होती फिर क्रमशः घटती जाती है वैसे ही दुर्जन की मित्रता जाती । और दुपहर के उपरान्त की छाया के सनान सत्पुरुषों की मित्रता प्रथम बहुत छोटी और पुनः क्रमशः बढ़ती जाती है ॥

इस से सज्जनों के साथ मित्रता करनी चाहिये जो प्रतिदिन बढ़ती रहे किन्तु दुष्टों के साथ नहीं । चाहें यों जानलो कि दुर्जन और सज्जनों का यही लक्षण है कि जिन की मित्रता घटती जाय वे दुर्जन और जिन की मैत्री आगे २ बढ़े वे सज्जन हैं ॥ ६० ॥

मृगमोतसज्जनानां तृणजलसन्तोषविहितवृत्तीनाम् ।

लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणा वैरिणी जगति ॥ ६१ ॥

(मृगेत्यादि) मृग, मछली और सत्पुरुष ये तीनों बिना किसी को सताये घास, जल और सन्तोष से अपना २ जीवन व्यतीत करते हैं । परन्तु व्याधधीवर [मछली मारने वाली] और दुर्जन इन से बिना कारण ही वैर र-

खते हैं ॥ अर्थात् व्याध और धीमर के तुल्य दुर्जन वा सुगुण को भी नीच पा-
पी समझना चाहिये ॥ ६१ ॥ इति दुर्जननिन्दा ॥

अथ सृजनप्रशंसा ॥

वाञ्छा सृजनसङ्गमे परगुणो प्रीतिगुरौ नमूता-
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद्भयम् ।
भक्तिः शूलिनि शवितरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खले-
येष्वेते निवसन्ति निमलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः ॥ ६२ ॥

(वाञ्छेति) जिन पुरुषों में ये गुण हैं उन-को हमारा प्रधान है -सत्सङ्ग
में रहि, पराये गुणों में प्रेम, बड़े लोगों से नञ्जना, विद्या में व्यसन, अपनी
ही स्त्री में रमण, लोकनिन्दा का भय, ईश्वर में भक्ति, मन के रोकने की श-
क्ति, और छोटे सङ्ग का त्याग ॥

ऐसे गुण संसारी मनुष्य के लिये विशेष कर भूषण हैं पर परमार्थी पुरुष
को अपनी स्त्री क्या किसी में भी व्यसन नहीं हो सकता किन्तु वह सभी से
उदासीन रहे सभी परमार्थ हो सकेगा ॥ ६२ ॥

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा सदसि वाक्पटुता युधिविक्रमः ।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥ ६३ ॥

(विपदीति) १ विपत्ति में धीरज, २ अपनी वृद्धि में क्षमा, ३ सभा में
वाणी की चतुराई, ४ युद्ध में पराक्रम, ५ यश में इच्छा, ६ शास्त्र में व्यसन ये
छः गुण महात्मा लोगों में स्वभाव से ही सिद्ध होते हैं ॥

ऐसे गुण स्वभाव से ही जिन में हों उन-को महात्मा जानो इस से जो
महात्मा बनना चाहे वह ऐसे गुणों के सेवन के लिये अत्यन्त उद्योग करे ॥ ६३ ॥

प्रदानं प्रच्छन्नं गृहमुपगते सम्भ्रमविधिः-

प्रियं कृत्वा मौनं सदसि कथनं चाभ्युपकृतेः ।

अनुत्प्रेक्षो लक्ष्म्या निरभिभवसाराः परकथाः-

सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधारोव्रतमिदम् ॥ ६४ ॥

(प्रदानतिति) दान प्रकटन करना, घर में आये हुये मनुष्य का आ-

दर करना, भलाई करके भीन रहना, दूसरे के उपकार को सभा में कहना, जन पाकर अभिमान न करना और दूसरे की चर्चा में उन की बुराई को बचाकर कहना यह तलवार की धार के समान कठिन नियम मनुष्यों को किस ने सिखाया है ? किन्तु किसी ने नहीं, स्वाभाविक ही है ॥

ऐसे काम करके मनुष्यों को संजान बनना चाहिये ॥ ६४ ॥

करे श्लाघ्य त्यागः शिरसि गुरुपादप्रणमनम्—

मुखे सत्या वाणी विजयिभुजयोर्वीर्यमतुलम् ॥

हृदि स्वच्छा वृत्तिः श्रुतमधिगतैकव्रतफलं—

विनाप्यैश्वर्येण प्रकृतिमहतां मण्डनमिदम् ॥६५॥

(कर इति) सुपात्र को दान देने से हाथ, बड़ों के चरणों में झुकाने से शिर, सत्य कहने से मुख, बड़े पराक्रम से दोनों बाहु, शुद्धवृत्ति से हृदय और शास्त्र के अवगण से ज्ञान प्राधानीय (बड़ाई के योग्य) होते हैं ॥

मनुष्य की दान आदि शुभ कर्म के सेवन से हाथ आदि की शोभा बढ़ा के संसार में अतुल कीर्ति प्राप्त करने के लिये उत्साह के साथ संश्लेष करना चाहिये ये सब देवी सम्पत्ति के चिह्न हैं ॥ ६५ ॥

सम्पत्सु महतां चित्तं भवत्युत्पलकोमलम् ।

विपत्सु च महाशैल शिलासङ्घातककशम् ॥६६॥

(सम्पत्तिस्त्विति) महात्मा लोगों का चित्त सम्पदा में कमल से भी कोमल और विपत्त समय में पर्यंत की बड़ी शिला के समान कठिन हो जाता है ॥

अर्थात् विचारशील सुख चाहने वाले मनुष्य को उचित है कि ज्यों २ धन सम्पत्त बढ़ती जाय त्यों २ नमता जाय और विपत्ति में कठोरता धारण करे तो उस को संसार के दुःख बहुत कम व्यापेंगे और सदा प्रसन्न सन्तुष्टचित्त रहेगा ॥ ६६ ॥

सनतप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न ज्ञायते ।

मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते ॥

स्वात्यां सागिरशुक्तिमध्यपतितं तन्मौक्तिकं जायते ।

प्रायेणाधममध्यमात्तमगुणः संसर्गतो जायते ॥ ६७ ॥

(सन्तप्तायसीति) तपे हुये लोहे पर जल की बूंद गिरे तो उस का नाम भी नहीं रहता; वही बूंद कमल के पत्ते पर गिरी हुई मोती के समान शोभित होती है, पुनः वही बूंद स्वातिमन्त्र में समुद्र के भीष में पड़कर मोती ही बन जाती है, इस से यह सिद्ध हुआ कि अधम, मध्यम और उत्तम गुण प्रायः सङ्ग से होते हैं ॥

इस लिये संसार में दुःख विपत्तियों से बचकर सुख चाहने वाले मनुष्य को सज्जन महात्मा विद्वान् का सङ्ग करना चाहिये ॥ ६७ ॥

यः प्रीणयेत्सुचरितैः पितरं स पुत्रो ।

यदुत्तरेव हितमिच्छति तत्कलत्रम् ॥

तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं यद् ॥

एतत्तयं जगति पुण्यकृतो लभन्ते ॥ ६८ ॥

(य इति) जो अपने अच्छे कार्यों द्वारा पिता को प्रसन्न रखे ऐसा पुत्र-जो सर्वदा अपने भर्ता का हित चाहे, ऐसी स्त्री-और जो सुख तथा दुःख में धराधर सहायक रहे ऐसा मित्र-ये तीनों जगत् में उस मनुष्य को मिलते हैं जिस का पूर्वकाल में बड़ा पुण्य किया होता है ॥

जो अपने पिता की सेवा वा यथावत् आज्ञा पालन करेगा उस के सन्तान भी उस के साथ वैसा करेंगे। इस कारण जो अपना हित चाहता है वह दूसरों का हित करे क्योंकि कूप आदि में से शब्द की वैसी ही प्रतिध्वनि होती है जैसा शब्द बोला हो तदनुसार जैसा करोगे वैसा ही फल तुम को मिलेगा ॥ ६८ ॥

एको देवः केशवो वा शिवो वा, एकं मित्रं भूपतिर्वा यतिर्वा ।

एको वासः पत्तने वा बने वा, एका नारी सुन्दरी वा दरीवा ॥ ६९ ॥

(एक इति) एक देवता की स्तुति करना चाहिये चाहे विष्णु हो वा शिव-एक मित्र बनाना चाहिये चाहे राजा हो वा संन्यासी-एक जगह रहना चाहिये चाहे नगर हो वा अन्न और एक से प्रीति करे चाहे सुन्दरी स्त्री हो वा पर्वत की कन्दरा हो ॥

जगत् में संसार और परमायुष्य ही मार्ग हैं जिसमें रहना चाहे उस की पूरी सामग्री संचित करे और पूरा उपाय करे इस से कवि ने यह बात भी इंगित देष्टित से दिखायी है कि यद्यपि विष्णु और शिव जी दोनों ही देवता की

उपासना पूजा संसार परमार्थ दोनों की सिद्धि के लिये सामान्य तथा कर्तव्य है तथापि संसारी सुख चाहने के लिये विष्णु भगवान् की पूजा उपासना विशेष उपकारी है तथा परमार्थ सिद्धि के लिये शिव जी की भक्ति विशेष कार्य-साधक है ॥ ६९ ॥

नमस्त्वेनोन्नमन्तः परगणकथनैः स्वान् गुणान् रूपापयन्तः ।

स्वार्थान् सम्पादयन्तो विततप्रियतरारम्भयन्ताः परार्थे ॥

क्षान्त्यैवाक्षेपरूक्षाक्षरमुखरमुखान् दुर्ज्जनान् दूषयन्तः ।

सन्तः साश्चर्यचर्या जगति बहुमताः करय नाभ्यर्चनीयाः? ॥ ७० ॥

(नमस्त्वेनेति) जो सत्पुरुष नम्रता द्वारा ही ऊंचे होते हैं, पराये गुणों के वर्णन से अपने गुण प्रसिद्ध करते हैं, पराये कार्यसिद्ध करने से अपने कार्यों को सम्पादन करते हैं और कठोर वाक्यों से बुराई करने वाले दुष्टों को अपनी क्षमा से ही से दूषित करते हैं ऐसे आश्चर्य कर्म करने वाले महात्माजन इस जगत् में सब के पूजनीय होते हैं ॥

जिन को इष्ट हो कि सब कोई हमारी प्रशंसा करे उन को उचित है कि ऐसे नम्रतादि गुणों को धारण करें ॥ ७० ॥

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमनैर्वाभ्युभिर्भूमि विलम्बिनो घनाः ।

अनुद्धृताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥ ७१ ॥

(भवन्तीति) जैसे फलों से लदे हुये वृक्ष झुक जाते हैं और नवीन जल से भरे हुये मेघ पृथिवी की ओर नमते हैं—वैसे ही सज्जन भी ऐश्वर्य पाय के नम्र हो जाते हैं क्योंकि यह परोपकारियों का स्वभाव ही है ॥

वृक्षादि का दृष्टान्त लेकर सज्जनों को चाहिये कि ऐश्वर्य पाकर नम्रता धारण करें जो नम्र नहीं बनते क्रूरता धारण करते हैं वे सज्जन भी नहीं हो सकते । और सज्जनों के हृदय में जो सुखानुभव उन को अपनी सज्जनता के कारण होता है उसे दुर्जन लोग कदापि नहीं जान पाते ॥ ७१ ॥

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन दानेन पाणिर्न तु कङ्कणेन ।

विभाति कायः करुणापराणां परोपकारैर्न तु चन्दनेन ॥ ७२ ॥

(श्रोत्रमिति) कानों की शोभा रज्जुखो के अग्र से है कुण्डल पहनने

से नहीं, हाथों की शोभा दान करने से है कंगन धारण करने से नहीं, और दयावान् पुरुषों के शरीर की शोभा परोपकार करने से है, चन्दन आदि सुगन्ध लगाने से नहीं है ॥

यहां कुण्डल, कङ्कण पहनने और चन्दन लगाने का निवेध नहीं है किन्तु कुण्डलादि की अपेक्षा शास्त्राध्ययनादि की अत्यन्त उत्तम समझना चाहिये। अर्थात् केवल सुगन्धनादि की अपेक्षा केवल शास्त्राध्ययनादि की सर्वोत्तम जानो यदि दोनों ही भूषण हों तो सुवर्ण में सुहागा के तुल्य है ॥७२॥

पापान्निवारयति योजयते हिताय-

गुणं च गूहति गुणान् प्रकटीकरोति ।

आपद्रुतं च न जहाति ददाति कालं-

समित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः ॥७३॥

(पापादिति) मित्र को पाप करने से रोकता, और उस के हित का उपदेश करता, छिपाने योग्य बातों को छिपाता, गुणों की प्रकाट करता, विपत्ति समय में मुख नहीं मोड़ता और अवसर पड़े पर यथाशक्ति धन देता है—ये लक्षण महात्मा लोगों ने अच्छे मित्रों के कहे हैं ॥

अर्थात् जिनके साथ मित्रता करें उनकी पापसे बचाना आदि ही श्रेष्ठ मित्रताका स्वरूप है किन्तु सामने प्रिय बोलदेना मात्र मित्रता लक्षण नहीं है ॥७३॥

पद्माकरं दिनकरो विकचीकरोति ।

चन्द्रो विकाशयति कैरवचक्रवालम् ।

नाभ्यर्थितो जलधरोऽपि जलं ददाति-

सन्तः स्वयं परहिते सुकृताभियोगाः ॥७४॥

(पद्माकरमिति) जैसे सूर्य बिना प्रार्थना किये ही कमल को खिलाता है, चन्द्रमा भी कुमुदिनी के समूह को स्वयं प्रफुल्लित करता है, और मेघमी बिना सांगे ही जल वर्षाता है वैसे ही सरपुरुष भी बिना कहे ही परोपकार करने में तत्पर रहते हैं ॥

याचना किये पर परोपकार करना मध्यम है और बिना प्रेरणा के दूसरों का हित करना सर्वोत्तम काम है । इस लिये ऐसा उत्तम काम करने सज्जन कहाने का उद्योग करना चाहिये ॥७४॥

एते सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये—

सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभूतः स्वार्थाविरोधेन ये ।

तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये ।

ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के ? न जानीमहे ॥७५॥

(एत इति) इस जगत में उत्तम पुरुष वे हैं जो स्वार्थ को त्याग कर पराया कार्य सिद्ध करते हैं । साधारण मनुष्य वे हैं जो अपना काम न बिगाड़ कर दूसरों का हित करते हैं, मनुष्यों में राजस पुरुष वे हैं जो अपने अर्थ के लिये दूसरे का कार्य नष्ट कर देते हैं और जो बिना प्रयोजन दूसरे का काम बिगाड़ते हैं उन का नाम हम भी नहीं जानते कि वे कौन हैं ? ॥

इन में से उत्तम मध्यम निरुद्ध या महानिकृष्ट जैसा काम करेगा वैसा फलभागी मनुष्य होगा । इस लिये जिन को सत्पुरुष वा उत्तम कोटि का मनुष्य बनना हो वे स्वार्थ छोड़ कर परीपकार करें ॥७५॥

क्षीरेणात्मगतोदकास हि गुणा दत्ताः पुरा तैऽखिलाः—

क्षीरे तापमवेक्ष्य तेन पयसा स्वात्मा कृशानौ हुतः ।

गन्तुं पावकमुन्मनस्तदभवद्वहद्वा तु मित्रापदम्—

युक्तं तेन जलेन शाम्नति सतां मैत्री पुनस्तवीदृशी ॥७६॥

(क्षीरेणेति) दूध ने अपने साथ मिले हुए जलरूपी मित्र को अपना सब गुण और रूप दे दिया—फिर दूध को जलता देख मानो उस की रक्षा के निमित्त जल ने अपने को अग्नि में पोंक डाला—अर्थात् चकल पड़ा—पुनः दूध ने भी मित्र को इस विपत्ति में देख स्वयं अग्नि में गिरना चाहा—परन्तु जल के छींटे पाय के अपने मित्र को जाया समझ कर ठण्डा हो गया सो यथार्थ है सज्जनों की मित्रता इसी प्रकार की होती है ॥

अर्थात् संसार में जिन को छुड़ी रहना हो वे ऐसी मित्रता धारण करें ॥७६॥

इतः स्वपिति केशवः कुलमितस्तदीयद्विषा—

मितश्च शरणार्थिनां शिखरिणां गणः शेरते ।

इतोऽपि बडवानलः सह समस्तसंवत्सकै—

रहो विततमूर्जितं भरसहं च सिन्धोर्वपुः ॥७७॥

(इत इति) समुद्र में एक ओर शेष पर विष्णु जी सो रहे हैं—एक ओर दैत्यसमूह निवास करता है—और एक ओर शरणा चारने वाले पर्वतों के समुदाय पड़े हैं—और एक ओर प्रलय के अग्नियों को लिये बहवानल यक्षधक्षा रहा है—आश्चर्य है कि इतने पर भी समुद्र का महान् पराक्रमी और भार सहारने वाला शरीर अचल और निष्कम्प है ॥

इसी प्रकार अनेक बड़े कार्यों के भार और नानाप्रकार के विघ्न उपस्थित रहने पर भी धैर्यवान् गम्भीर औरवीर महान् पुरुषों को कभी व्याकुल न होना चाहिये वा-यों कहों कि जो ऐसे हों वे ही महान् पुरुष कहे जा सकते हैं ॥ ७७ ॥

दृष्ट्वां छिन्धि भजक्षमां जहि मदं पापेदति मा कृपाः—

सत्यं ब्रह्मनुयाहि साधुपदवीं सेवस्व विद्वज्जनान् ।

मान्यान्मानय विद्विषोप्यनुनय प्रख्यापय स्वान् गुणान्—

कीर्तिं पालय दुःखिते कुरु दयामेतत्सतां लक्षणम् ॥७८॥

(दृष्ट्वांमिति) दृष्ट्वा को काटो, क्षमा को धारण करो, मद को दूर करो, पाप में मोति मत करो, सच बोलो, अवगनों के मार्ग पर चलो, विद्वानों की सेवा करो, मान्य पुरुषों का सत्कार करो, शत्रुओं को भी प्रसन्न रखो, अपने गुणों को प्रसिद्ध करो, यश का पालन करो, और दुःखियों पर दया रखो—ये सत्पुरुषों के लक्षण हैं ॥

अपना भला चाहने वाले मनुष्य को ऐसे काम अवश्य करने चाहिये जिस से सत्पुरुष कहावे सच कोई प्रतिष्ठा करे सुखी रहे ॥ ७८ ॥

मनसि वचसि काये पुण्यपौषपूष्पा—

स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः ।

परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं—

निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥७९॥

(मनमिति) ऐसे महात्मा जगत् में विरहे ही हैं जिन के वचन और शरीर में पवित्रता भरी है; और जो परोपकार से तीनों भुवनों को दृष्ट करके

वाले, और पराये छोटे से गुणों को भी बड़ा मानकर अपने हृदय में प्रसन्न होने वाले हैं ॥

जगत में सुख चाहने वाले मनुष्य को मन वाणी और शरीर से सदा धर्म करना उचित है ॥ ७८ ॥

किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा-

यन्नाश्रिताश्चतरवस्तरवस्त एव ।

मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण-

कङ्कालनिस्वकुटजा अपि चन्दनाः स्युः ॥८०॥

(किमिति) उस सुमेरु और कैलाश पर्वत की काहे का बड़ाई है कि जिस के आश्रित वृक्ष जैसे के तैसे ही बने हैं। किन्तु हम तो मलय पर्वत को उत्तम गिनते हैं कि जहाँ कङ्काल और जीव आदि कङ्काल वृक्ष भी चन्दन हो जाते हैं।

अर्थात् जिस धर्मात्मा विद्वान् वा धनी आदि की शरण में रहने वाले धर्मात्मा विद्वान् वा धनी आदि न हो जायं तो उस धर्मात्मादि की प्रशंसा नहीं है किन्तु जो अधर्मी को धर्मात्मा, मूर्ख को विद्वान् तथा निर्धन को धनवान् अपना जैसा करदे उस की प्रशंसा विशेष करनी चाहिये ॥ ८० ॥

अथ धैर्यप्रशंसा

रत्नैर्महाहैस्तुतुष्टुर्न देवा, न भोजिरे भीमविषेण भीतिम् ।

सुधां विनान प्रययुर्विरामं, न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः ८१

(रत्नैरिति) देवताओं ने यद्यपि समुद्र में से अनेक अमूल्य रत्न पाये तो भी समुद्र का नथना न छोड़ा और मयङ्कर विष से भी डर कर अपना मनोरथ नहीं त्यागा-विना असुख निकाले उस कार्य को नहीं छोड़ा-इस से सिद्ध होता है कि धीर लोग सुनिश्चित को विना सिद्ध किये नहीं ठहरते ॥

अर्थात् जिस वस्तु की विचारशील मनुष्य इच्छा करे उस की प्राप्ति किये बिना कदापि मन्तोष न करना चाहिये। उस की बदले अन्य कुछ भी प्राप्त हो उस से भी अपन। कार्यनिष्ठ न माने कितने ही दुःख वा विघ्न पड़ें तो भी उस अवधि नहकर अग्रे की सिद्धि परे इन गुण के धारण से मनुष्य की सुकृपरम्परा में आनन्द का त्याग और पुरुषार्थ करने की शक्ति का सिल-

सिखा जारी हो जाता है जिस से मनुष्य दुःख नहीं पाते । जिस देश में ऐसे मनुष्य अधिक होते हैं उसी की उन्नति घनधान्यादि से ढीक र हो जाती है ॥ ८१ ॥

क्वचिद्भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यङ्कशयनं,

क्वचिच्छाकाहारी क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः ।

क्वचित्कन्याधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो,

मनस्वी कार्थ्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखम् ॥ ८२ ॥

(क्वचिदिति) कहीं भूमि को बिक्रीना करते, कहीं पलंग पर सोते, कहीं चाग खाके निर्वोह करते, कहीं चावल आदि उत्तम पदार्थों का भोजन करते कहीं कण्ठी गुदघ्नी धारण करते, और कहीं सुन्दर वस्त्र धारण करते हैं । इस प्रकार कार्यसिद्धि की चाह करनेवाले विचारशील लोग सुख और दुःख नहीं गिनते ॥

विचारशील पुरुष को सब प्रकार के सुख दुःख भोग कर भी कार्यसिद्ध कर लेने चाहिये यही मनुष्य का खास मनुष्यपन है परन्तु वह काम धर्म विरुद्ध न हो किन्तु धर्मानुसंग हो उस के प्राप्ति करने में कष्ट तथा दुःख का भय न करे ॥ ८२ ॥

ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्संयमो-

ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः ।

अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुधर्मस्य निर्व्याजता-

सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम् ॥ ८३ ॥

(ऐश्वर्यस्येति) ऐश्वर्य की शोभा सुजनता, शूरता की वाक्संयम (बहकर न झोलना) ज्ञान की शान्ति, विद्या की तत्त्वता, धर्म की उपान्त की देना, तपकी क्रोध न करना, प्रभुता की क्षमा और धर्म की शोभा कल रहित होना है । परन्तु शील सब गुणों की शोभा है ॥

इनलिये शुद्ध निष्कपट सरल स्वभाव का धारण करना सर्वोपरि मनुष्य का परम कर्तव्य काम है अपना परमहित चाहने वाला इसे कदापि न भूलें ॥

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु-

लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।

अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा-

न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥८४॥

(निन्दन्त्विति) नीतिज्ञ लोग चाहे निन्दा करें चाहे स्तुति और धन आदि पदार्थ चाहे घर में आवें चाहे नष्ट हो जावें और चाहे आज ही प्रान्त हो वा कल्पान्तर में परन्तु धीर पुरुष न्याय के मार्ग को त्याग कर एक पग भी विरुद्ध नहीं चलते ॥

इसलिये निन्दा स्तुति आदि सब दशाओं में मनुष्य को धर्म से विरुद्ध किञ्चित् भी न चलना चाहिये । यही सर्वोत्तम कल्याण का मार्ग है ॥ ८४ ॥

अथ प्रारब्धप्रशंसा ॥

भग्नाशस्य करण्डपीडिततनोम्लानेन्द्रियस्य क्षुधा-

कृत्वाखुर्विवरं स्वयं निपतितो नक्तं मुखे भोगिनः ।

तृप्तस्तत्पिशितेन सत्वरमसौ तेनैव यातः पथा-

लोकाः! पश्यत दैवमेव हि नृणां वृद्धौ क्षये कारणम् ॥८५॥

(भग्नाशस्येति) एक सर्प पिटारे में बंद था और क्षुधा से व्याकुल था इसी से उस ने अपने कीटन की आशा छोड़ दी थी परन्तु दैवयोग से रात्रि में एक मूसा उस पिटारे में छिद्र करके सर्प के मुख में जा गिरा जिस के नांस से सर्प तृप्त हो कर उसी छिद्रद्वारा बाहर निकल गया । सो हे लोगो ? देखो प्रारब्ध ही मनुष्यों की बढ़ती तथा घटती में कारण है ॥

नियम से फल देने वाली पूर्व किये शुभाशुभ कर्मों का सुख दुःख रूप फल नियत समय पर प्राप्ति को अवश्य प्राप्त होता है । इस लिये मनुष्य को भविष्यत् में कल्याण होने की आशा से शुभकर्म का सेवन अवश्य करना चाहिये ॥

पातितोऽपि कराघाते स्तृप्तस्त्येव कन्दुकः-

प्रायेण साधुवृत्तानामस्थायिण्यो विपत्तयः ॥८६॥

(पातित इति) जैसे हाथ की ताड़ना से नीचे गिराया हुआ गेंद फिर ऊपर उछलता है वैसेही सत्पुरुषों की विपत्तियां प्रायः स्थिर नहीं रहती हैं ॥

इस लिये सत्पुरुषों की विपत्तिप्रसंग में घबड़ाना नहीं चाहिये यह नियम है कि जो विपत्ति पहिले से न थी इसी से आने भी न रहेगी तब अनिश्चय कष्ट को सहन कर लेने से दुःख भी कम जान पड़ता है ॥ ८६ ॥

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः ।

नास्त्युद्यमसमो बन्धुर्यं कृत्वा नावसीदति ॥८७॥

(आलस्यमिति) आलस्य मनुष्यों के देह में परमशत्रु है और उद्यम के समान दूसरा कोई मित्र नहीं कि जिस के करने से मनुष्य कभी दुःखित नहीं होता ॥

इस लिये आलस्य को त्याग कर सदा पुरुषार्थ करना उचित है ॥८७॥

छिन्नोऽपि रोहति तरुः क्षीणोऽप्युपचीयते पुनश्चन्द्रः ।

इति विमृशन्तः सन्तः सन्तप्यन्ते न विप्लुता लोके ॥८८॥

(छिन्न इति) काटा हुआ वृक्ष काल पाकर फिर बढ़ता और फैलता है तथा क्षीण हुआ चन्द्रमा भी फिर-वृद्धि को प्राप्त हो कर पूर्ण हो जाता है ऐसा विचारते हुए बुद्धिमान् जन विपत्काल में धबकाते नहीं ॥

सुख के पीछे दुःख और दुःख के पश्चात् सुख पारा पसी गाड़ी के पहिये के समान आता जाता बना रहता है इस लिये दुःख में घबड़ाना नहीं चाहिये मान लेता चाहिये कि जैसे रात के बाद नियम से दिन ही हुआ करता है अन्यमुख नहीं होता और न सदा रात ही रहती है वैसे दुःख के बाद फिर भी सुख ही होगा ॥८८॥

नेता यस्य बृहस्पतिः महरणं वज्रं सुरा सैनिकाः—

स्वर्गा दुर्गमनुग्रहः किल हरैरावतो वारणः ।

इत्याश्चर्यबलान्वितोऽपि बलभिद् भग्नः प्रैः सङ्गरे—

तद्व्यक्तं वरमेव दैवशरणं धिग्धिक्कृथापौरुषम् ॥८९॥

(नेतेति) जिस इन्द्र के यहाँ बृहस्पति मन्त्री, वज्र शस्त्र, देवताओं की सेना, स्वर्ग दुर्ग (गढ़), विष्णु की कृपा वा सहायता और ऐरावत हस्ती वाहन (सवारी) ऐसे आश्चर्यरूप बल से युक्त भी इन्द्र युद्ध में शत्रुओं से हार गया—इस से यही सिद्ध होता है कि प्रारब्ध ही सब बातों का कारण है और पुरुषार्थ को धिक्कार है ॥

किसी अंश में कभी कहीं प्रारब्ध कर्म बलवान् होता है तो उस से विरुद्ध किया पुरुषार्थ सफल नहीं होता । इस लिये कार्य सिद्धि न होने पर स-

सुख की शोक नहीं करना चाहिये क्योंकि नियत विपाक कर्मों का यह नियम ही है कि वह अपने नियत समय वैसा प्रभाव दिखाये बिना टल नहीं सकता । और यदि कहीं कभी किसी खास कारण से टल भी जाय [जैसे सावित्री के पातिव्रत धर्म के प्रभाव से सत्यवान् का मृत्यु टल गया] तो वहाँ सत्यवान् का मृत्यु इसी प्रकार टल जाना भी नियत ही जानी अथवा किसी अंश से अपवाद उत्सर्ग का बाधक भी होजाय तो उस के उत्सर्ग पत्र की कुछ हानि नहीं होती ॥८९॥

कर्मायत्तं फलं पुंसां बुद्धिः कर्मानुसारिणी ।

तथापि सुधिया कार्यं कर्त्तव्यं सुविचारतः ॥ ९० ॥

(कर्मायत्तमिति) यद्यपि मनुष्यों को अपने २ कर्मों के अनुसार ही फल मिलता है तथा बुद्धि भी कर्मों के अनुसार ही होती है तो भी बुद्धिमान् को चाहिये कि विचार पूर्वक ही काम करे ॥

क्यों कि प्रारब्ध के अनुकूल किया पुरुषार्थ तो विशेष फलदायक होगा ही । और सर्वत्र प्रारब्ध बलवान् भी नहीं रहता अनियत विपाक कर्म साध्य वा कष्टसाध्य रोग के तुल्य पुरुषार्थरूप औषध से निवृत्त हो ही जाते हैं । इस लिये पुरुषार्थ करना सब दशा में उत्तम है ॥९०॥

खल्वाटो दिवसेश्वरस्य किरणैः सन्तापितो मरुतके-

वाञ्छन्देशमनातपविधिवशात्तालस्य मूलं गतः ।

तत्राप्याशु महाफलेन पतता भग्नं सशब्दं शिरः-

प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यान्त्यापदः ॥ ९१ ॥

(खल्वाट इति) खल्वाट [गड्ढा] पुरुष शिर में सूर्य की किरणों से तपाया हुआ, छाया की इच्छा करके प्रारब्ध वश से किसी ताड़वृक्ष के नीचे जा रहा-वहाँ भी उस वृक्ष का बड़ा फल शीघ्र गिरने से उस का शिर फूट गया-इस से यह सिद्ध हुआ कि भाग्यहीन पुरुष जहाँ २ जाता है विपत्तिभी उस के सङ्ग ही सङ्ग जाती है ॥

ऐसे अवसर में नियत विपाकरूप प्रारब्ध कर्म को विशेष बलवान् समझना चाहिये जैसे असाध्य रोग पर कोई दवा नहीं चलती वैसे नियत विपाक कर्म को भी पुरुषार्थ नहीं टाल सकता ॥९१॥

शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं गजभुजङ्गमयोरपि बन्धनम् ।

मतिमतां च विलोवय दरिद्रतां विधिरहो बलवानिति मेमतिः ॥

(शशीत्यादि) चन्द्रमा और सूर्य को राहु से घसित देख कर, हस्ती और सर्प को भी बन्धन में पड़े देख तथा बुद्धिमान् मनुष्यों को दरिद्री देख मेरी समझ में यही निश्चय होता है कि प्रारब्ध ही बलवान् है ॥

प्रारब्ध के बलवान् कहने से यह अभिप्राय नहीं है कि निरुद्योगी बन जाओ किन्तु प्रयोजन यह है कि जैसे निरुष्ट कर्मों का फल दुःख अवश्य ही भोगने पड़ता है वैसे शुभ कर्मों का भी फल सुख अवश्य मिलेगा । ऐसा विश्वास रख कर सदा अच्छे काम करने चाहिये प्रारब्धों की शटलता आस्तिकों की आस्तिकता को पुष्ट करने के लिये मानना चाहिये । और जो लोग ऐसे कथन देख कर आलसी निरुद्योगी बन जाते हैं यह दोष उन्हीं लोगों का है किन्तु शास्त्र का यह मतलब नहीं है ॥९२॥

सृजति तावदशेषगुणाकरं पुरुष रत्नमलङ्करणं भुवः ।

तदपि तत्क्षणभङ्गि करोति चेदहह ! कष्टमपण्डितताविधेः ? ॥

(दृगतीति) विधाता किसी प्रसिद्ध नामी विद्वान् पुरुष को सब गुणों का भण्डार और भूति का एकमात्र भूषण बनाता है—परन्तु जो उस का शरीर क्षणभङ्गुर कर देता अर्थात् अधिक जीवित नहीं रखता यह अति शोक का स्थल है इसी से विधाता की सूखंता प्रतीत होती है ॥

यहां विधाता ईश्वर को दोष लगाने से कवि का प्रयोजन नहीं है किन्तु कर्म की प्रबलता के प्रसङ्ग में प्रारब्ध को प्रधान ठहराने से तात्पर्य है कि प्रारब्ध के अनुसार ही अच्छे पुरुषों का भी अधिक जीवन नहीं रहता ॥९३॥

पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषो वसन्तस्य किं

नोलूकोप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम् ।

धारा नैव पतन्ति चातकमुखे मेघस्य किं दूषणम्—

यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्माजितुं कः क्षमः ? ॥९४॥

(पत्रमिति) यदि करील वृक्ष में पत्ते नहीं लगते तो इस में वसन्त ऋतु का क्या दोष ? यदि दिन में उल्लू को नहीं दीखता तो इस में सूर्य का कौन

दोष ? और जो चोतक के मुख में बूंद न गिरे तो इस में मेघ का क्या अप-
राध है ? इस से यह सिद्ध होता है कि जो कुछ विधाता ने मल्लक में लिख
दिया है उसे कोई भी नहीं सेट सकता ॥

सञ्चित कर्म वासनारूप से शिर में रहते हैं [क्योंकि विचार शक्ति का
मुख्यस्थान शिर है इसी कारण शिर में विशेष कर्माँ चढ़ जाने से उन्माद रोग
हो जाता है] उन्हीं वासनारूप कर्माँ के अनुसार फल प्राप्त होते हैं ॥ ९४ ॥

॥ कर्म प्रशंसा ॥

नमस्यामो देवान्नु हतविधेस्तेऽपि वशगा-

विधिवन्धः सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः ।

फलं कर्मायत्तं किममरगणैः किञ्च विधिना-

नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति ॥ ९५ ॥

(नमस्याम इति) देवताओं को बड़ा समझकर हम नमस्कार नहीं करते
क्योंकि वे भी विधाता के आधीन हैं—विधाता को भी नमस्कार हम नहीं क-
रते क्योंकि वह भी हमारे नियत कर्माँ का ही फल दे सकता है । जब फल
कर्माधीन है तो देवता और विधाता इस में क्या कर सकते हैं ? इस लिये
कर्माँ को ही नमस्कार है कि जिन के लौटपौट करने में विधाता भी समर्थ
नहीं है ॥

यहां देवता वा परमेश्वर को असमर्थ ठहराने से प्रयोजन नहीं किन्तु स-
न्तुष्ट के लिये कर्म को सर्वोपरि प्रधान ठहराने का प्रयोजन है कि जैसे कर्म
करेगा वैसा फल अवश्य पावेगा इसलिये सदा शुभकर्म करने चाहिये ॥ ९५ ॥

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे-

विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासङ्कट ।

रुद्रो येन कपालपाणिपुटको भिक्षाशनं कारितः-

सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे ॥ ९६ ॥

(ब्रह्मेति) जिस कर्म के प्रभाव से ब्रह्मा जी निरन्तर कुम्हार की नाई
जगत् रचना में लगे ही रहते हैं—और विष्णु भगवान् भी बार २ अवतार

लेने में परवश हैं, रुद्र [शिव जी] हाथ में खप्पर लेकर भिक्षा मांगने में त-
रफर हैं, सूर्यदेव नित्य आकाश में घूमते रहते हैं उस प्रबल कर्म को हमारा
प्रणाम है ॥

जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलयरूप करने में परमेश्वर भी नियत है और
उत्पत्ति आदि कर्म को यथावत् करने से ही परमेश्वर सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान्
माना जाता है अर्थात् सब ही की बड़ाई और छोटाई कर्म के आधीन है तो म-
नुष्य को बड़ा होने की इच्छा से बड़े २ कर्म अवश्य करने चाहिये ॥ ९६ ॥

नैवाकृतिः फलति नैव कुलं न शीलं-

विद्याऽपि नैव न च यत्नकृतापि सेवा ।

भाग्यानि पूर्वतपसा खलु सञ्चितानि-

काले फलन्ति पुरुषस्य यथैव वृक्षाः ॥ ९७ ॥

(नैवेति) मनुष्य के लिये सुन्दर रूप, अच्छा कुल, शील, विद्या और
प्रयत्न से की हुई सेवा कुछ फलदायक नहीं होती केवल पूर्वतप से सञ्चित किये
कर्म ही मनुष्य को समय पर वृक्ष की नाई (भांति) फल देते हैं ॥

इस कारण सुन्दर रूप आदि को सुख का हेतु कोई मत समझो किन्तु
धर्मानुकूल कर्म ही सुख का हेतु है इस लिये सदा शुभकर्म करो ॥ ९७ ॥

वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये महार्णवे पर्वतमस्तके वा ।

सुप्तं प्रसन्नं विषमस्थितं वा रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि ॥ ९८ ॥

(वन इति) वन में, युद्ध में, शत्रुओं से, जल और अग्नि में, बड़े समुद्र
में और पर्वत की चोटी पर सब स्थानों में सोते हुए, असावधान तथा झट्ट
की दशा में पड़े हुये भी पूर्वकृत पुण्य (कर्म) ही मनुष्य की रक्षा करते हैं ॥

इस लिये मनुष्य को सदा पुण्य का सञ्चय करना चाहिये ॥ ९८ ॥

या साधूंश्च खलान् करोति विदुषो भूखान् हितान् द्वेषिणः-

प्रत्यक्षं कुरुते परोक्षममृतं हालाहलं तत्क्षणात् ।

तामाराधय सत्क्रियां भगवतीं भोक्तुं फलं वाञ्छितं-

हे साधो ! व्यसनैर्गुणेषु विधुलेष्वार्यां वृथा सा कृथाः ॥ ९९ ॥

(येति) जो शुभकर्म शत्रुओं को अच्छा कर देता है और भूखों को विद्वान्

शत्रुओं की मित्र, गुप्त को प्रकट तथा विष को अमृत बना देता है उस नग-
वतीरूप सत्क्रिया का आराधन [सेवन] करो । हे सज्जनो ! यदि इच्छित
फल के भोगने की वाञ्छा है तो बहुत से गुणों की इच्छा छोड़ कर केवल उ-
त्कर्ष करो ॥ ९९ ॥

गुणवद्गुणवद्वा कुर्वता कार्यमादौ-

परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन ।

अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते-

भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥१००॥

(गुणवदिति) बुद्धिमान् मनुष्य को उचित है कि योग्य वा अयोग्य
किस कार्य का आरम्भ करे प्रथम उस के परिणाम को ध्यान देकर प्रयत्न से
विचार ले-क्योंकि बिना विचारे अतिशीघ्रता से किये बुरे काम का निरुप-
फल मरणपर्यन्त हृदय में काटे के सनान चुभता रहता है ॥

ऐसा विचार प्रायः कानों में करना उचित है किन्तु सर्वत्र नहीं । कोई-
काम ऐसे भी होते हैं जिन को बिना विचारे शीघ्र तरफाल ही कर डालना
चाहिये । वहाँ शीघ्र विचार में देर लगाने से बड़ा दुःख या हानि भोगनी
पड़ती है सो विचार पूर्वक परिणाम को शीघ्र कर काम करना यह उत्सर्ग
है और अपने नार डालने को सामने आता ही उसे बिना विचारे (इत्या-
देवाविचारयन्) के अनुसार नार दे यह अपवाद है ॥

स्थाल्यां वैदूर्यमथ्यां पचति तिलकणान् चन्दनैरिन्धनीषैः-
सौवर्णैर्लाङ्गुलाग्रैर्विलिखति वसुधात्मकमूलन्य हेतोः ।

छित्त्वा कर्पूरखण्डान् दृतिमिह कुरुते कोद्रवाणां समन्तात्-
प्राप्येमां कर्मभूमिं न चरति मनुजो यस्तपो मन्दभाग्यः १०१

(स्थाल्यामिति) जो मन्दभाग्य मनुष्य इस मनुष्य शरीर को पाकर तप
आदि उत्कर्ष नहीं करता उसे उस महाभूख के सनान जानी जो चन्दन के ई-
न्यन से वैदूर्य मणि के वर्तन में तिल के फटकन्-छिलकों को पकाता है वा
आक [वृत्त] की जड़ निकालने के निमित्त सुवर्ण के हल से पृथ्वी को तो-
तता है अथवा कपूर के टुकड़ों को काटकर वेदों के चारों ओर बाँड़ बनाता है ॥

अर्थात् मनुष्य शरीर पाकर असूत्र्यरुद्ररूप पुण्य का भक्षण सब को करना चाहिये । जो ऐसा नहीं करता वह व्यर्थ ही जन्म गमाता है मनुष्य संदाही सुख चाहता और जानता भी है कि शुभ कर्म के सेवन से ही सुख मिल सकता है तथा शुभ कर्म करना भी चाहता है परन्तु प्रमादरूप मद्य के नशा में वेहोश रहता हुआ कुछ नहीं कर पाता ॥१०१॥

मज्जत्वम्भसि यातु मेरुशिखरं शत्रूञ्जयत्वाहवे-

वाणिज्यं कृषिसेवनादिसकला विद्याः कलाः शिक्षतु ।

आकाशं विपुलं प्रयातु खगवत् कृत्वा प्रयत्नं परं-

नाभाव्यं भवतीह कर्मवशतो भाग्यस्य नाशः कुतः ॥१०२॥

(मज्जत्विति) चाहे मनुष्य समुद्र में मोतियों के लिये गोता लगावे, अथवा सुमेरु पर्वत के शिखर पर जा चढ़े (सुवर्ण के निमित्त) चाहे संध्या में शत्रुओं को जीते, चाहे वाणिज्य खेती आदि सब विद्या तथा कलाओं को सीख लेवे चाहे पक्षी के समान आकाश में उड़ता फिरे परन्तु अनहीनी नहीं होती और जो हीनहार है वह भिड़ती नहीं ॥

अर्थात् जैसे पूर्व किये कर्मानुकूल ही सब को भला बुरा फल मिलता है इसी प्रकार अब जैसे कर्म करेंगे वैसे अच्छा बुरा फल आये भी अवश्य मिलेगा इस पर विश्वास रख के अच्छे छी कर्म करने चाहिये ॥१०२॥

भोमं वनं भवति तस्य पुरं प्रधानं -

सर्वो जनः सुजनतामुपयाति तस्य ।

कृत्स्ना च भूर्भवति सन्निधिरत्नपूर्णा-

यस्यास्ति पूर्वसुकृतं विपुलं नरस्य ॥१०३॥

(भीममिति) भयानक वन भी उस मनुष्य के लिये प्रधान नगर [राजधानी] के समान हो जाता है और सब लोग उस के सित हो जाते तथा समस्त भूमि उस के अर्थ रत्नों से भर जाती है जिस का पूर्वजन्म में सञ्चित किया बहुतसा पुण्य उदय होता है ॥

अर्थात् पुण्यात्मा पुरुष जहां कहीं जङ्गल में भी जा बैठे तो वहां भी उस को धनैश्वर्यादि सुख की सब सामग्री बिना परिश्रम किये प्राप्त होजाती

है । यह पुण्य का प्रताप है इस लिये पुण्य करना चाहिये ॥१०३॥

की लाभो गुणिसङ्गमः किमसुखं प्राज्ञेतरैः सङ्गतिः—

का हानिः समयच्युतिर्निपुणता का धर्मतत्त्वे रतिः ।

कः शूरो विजितेन्द्रियः प्रियतमा कानुव्रता किं धनं—

विद्या किं सुखमप्रवासगमनं राज्यं किमाज्ञाफलम् ॥१०४॥

(क इति) इस श्लोक में ९ प्रश्न और उन के उत्तर हैं—प्रश्न—लाभ क्या है ? उ० गुणियों का सङ्ग । प्र० दुःख क्या है ? उ० सुखों की सङ्गति । प्रश्न हानि क्या है ? उ० उत्तम समय को व्यर्थ खोना वा समय पर चूक जाना । प्र० निपुणता क्या है ? उ० धर्म में प्रीति होना । प्रश्न शूर कौन है ? उत्तर जो इन्द्रियों को वश में रखे । प्रश्न अच्छी स्त्री कौन है ? उ० जो पति की आज्ञा में रहे । प्रश्न—धन क्या है ? उ० विद्या । प्रश्न—सुख क्या है ? उ० परदेश में न रहना । प्रश्न—राज्य क्या है ? उ० आज्ञा का चलना ॥

इस लिये गुणी लोगों के सत्सङ्ग आदि करने योग्य और सुखसङ्गति आ त्यागने योग्य काम कल्याणकारी मानने चाहिये ॥१०४॥

अप्रियवचनदरिद्रैः प्रियवचनाढ्यैः स्वदारपरितुष्टैः ।

परपरिवादनिवृत्तैः क्वचित्क्वचिन्मण्डिता वसुधा ॥१०५॥

(अप्रियवचनदरिद्रैरिति) जो पुरुष कठोर वचन नहीं कहते, सदा भीठा वचन बोलते, अपनी ही स्त्री से सन्तुष्ट रहते और पराई निन्दा नहीं करते हैं ऐसे सत्पुरुषों से यह पृथ्वी कहीं २ शोभायुक्त है । सर्वत्र नहीं ॥

अर्थात् ऐसे पुरुष कहीं २ कोई २ होते हैं । जिन को अपने देश वा कुल की शोभा बढ़ानी हो वे ऐसे २ शूद्र आचर्यों का सेवन करें ॥ १०५ ॥

कदर्थितस्यापि च धैर्यवृत्ते—

न शक्यते धैर्यगुणः प्रमार्ष्टुम् ।

अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्ने=

नार्धः शिखा याति कदाचिदेव ॥ १०६ ॥

(कदर्थितस्येति) यदि धीर पुरुष पर विपत्ति भी पड़जाय तो भी उस का स्वाभाविकगुण धैर्य नष्ट नहीं होता जैसे जलते हुए अग्नि को चाहे कितना ही

टेंहा सलटा करी परन्तु उस की ज्वाला (लपट) ऊपर की ही चढ़ाती है कि-
न्तु नीचे की कदापि नहीं जाती ॥

इस लिये मनुष्य को प्रत्येक काम में धीरज धरने का स्वभाव डालना चा-
हिये जिस से विपत्त समय में दुःख न सतावे ॥ १०६ ॥

कान्ताकटाक्षविशिखा न दहन्ति यस्य-

चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः ।

कर्षन्ति भूरिविषयाश्च न लोभपाशै-

र्लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः ॥ १०७ ॥

(कान्तेत्यादि) जिस पुरुष के चित्त को स्त्री के कटाक्षरूपी वाण व्याकुल
नहीं करते-और जिस के चित्त में क्रोधरूप अग्नि नहीं भड़कता तथा जो इ-
न्द्रियों के विषयों से नहीं खँचागया वेही धीर पुरुष तीनों भुवनों को जीत
सकता है ॥

अर्थात् कान क्रोध और लोभ में अधिक न फँसना चाहिये कामादि के
बशीभूत न होना ही धीरज का सुधारना है । ऐसा ही मनुष्य वास्तव में चक्र-
वर्ती राज्य का अधिकारी हो सकता है ॥ १०७ ॥

एकेनापि हि शूरेण पादाक्रान्तं महीतलम् ॥

क्रियते भास्करेणैव स्फारस्फुरिततेजसा ॥ १०८ ॥

(एकेनापीति) एक ही पराक्रमी पुरुष अपने प्रबल पराक्रम से समस्त
भूमण्डल को अपने वश में कर सकता है जैसे एक सूर्य सब जगत् को प्रकाश
युक्त करता है ॥

इस लिये शूरवीर साहसी उद्योगी धीर, बलवान्, बुद्धिमान्, पराक्रमी
सन्तान होने का उद्योग मनुष्य को करना चाहिये ॥ १०८ ॥

वह्निस्तस्य जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणान्-

मेरुः खल्पशिलायते मृगपतिः सद्यः कुरङ्गायते ।

व्याली माल्यगुणायते विषरसः पीयूषवर्षायते-

यथाङ्गेऽखिललोकवल्लभतमं शीलं समुन्मीलति ॥ १०९ ॥

(वह्निस्तस्येति) उस पुरुष के लिये अग्नि भी जल की नाई शान्त हो जा-

ता है, ससुद्र भी नहर के समान हो जाता खुमेरु पर्वत छोटी शिला के तुल्य दीख पड़ता है, सिंह हरिण के बराबर जान पड़ता, सर्प माला के समान हो जाता और विष असृतसा प्रतीत होता है जिस के शरीर में सम्पूर्ण लोक का मोहने वाला एक शील विराजमान है ॥

विचारशील विद्वान् पुरुष ऐसे स्वभाव और विचार से कार्य माध सकता है जिस से अग्नि आदि भी भय के हेतु न रहें अथवा सत्य और धर्म के प्रधान प्रबल प्रताप के सामने अग्नि आदि जलादि के तुल्य हो जाते हैं जैसे भक्त प्रह्लादादि होगये हैं ॥ १०९ ॥

लज्जागुणौघजननीं जननीमिव स्वा-

मत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्त्तमानाम् ।

तैजस्विनः सुखमसूनपि सत्यजन्ति-

सत्यव्रतव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ॥ ११० ॥

(लज्जेति) लज्जा आदि गुणों को उत्पन्न करने वाली माता के समान अत्यन्त शुद्ध हृदय वाली और सदा स्वाधीन रहने वाली ऐसी प्रतिज्ञा की सत्यवादी तैजस्वी पुरुष कदापि नहीं त्यागते प्रत्युत प्राणों का छोड़ देना उन के लिये दुःखदायक नहीं होता ॥

अपनी प्रतिज्ञा का पालन सब अनुषंगों की विशेष कर करना चाहिये । क्योंकि माता के तुल्य रक्षा करने वाली प्रतिज्ञा होती है ॥ ११० ॥

इति भाषार्थसहितं श्रीभक्तृहरिकृतं नीतिशतकं

समाप्तम् ॥

॥ सनातनधर्मपुस्तकालय का सूचीपत्र ॥

1- पाणिनीय अष्टाध्यायीसंस्कृतभाषा वृत्तिसोदाहरण (2)	२२ भजनवीथी (१) में १०० पु० (॥)
2- ब्राह्मणसंस्कृतभाषासिकपत्र १ भाग (१॥)	२३ दयानन्द हृदय (१) १०० पु०
3- ब्राह्मणसंस्कृतभाषासिकपत्र २ भाग (१॥)	२४ सत्योपदेश भजन (१) में १०० पु० (॥)
4- गणेशमहोदधि (व्याकरण गणपाठ- श्रीकवद्व्याख्या सहित) (१)	दयानन्दमतदर्पण (१) में १०० पुस्तक (॥)
5- गणेशपाठसाधनसूत्रों सहित (१)	दयानन्दकेमूल सिद्धान्त की हानि (॥
6- धार्मिकपाठ भाषाटीका तथा उदाह- रण सहित (१)	२) में १०० पुस्तक
7- दर्शपूर्णमासपद्धति भाषाटीका (॥)	२५ शुक्ल यजुर्देदी रुद्री (॥)
8- इष्टिसंयह पद्धति भा०टी० (१)	२६ पारस्कर गृह्यसूत्र हरिहर भाष्य सहित (१॥)
9- स्नातकर्म पद्धति भाषाटीका (१)	२७ पञ्चतन्त्र भाषाटीका (२)
10- उपनयनपद्धति भाषाटीका (१)	२८ विनयपत्रिका तुलसीदासकृत (॥)
11- गमोधानादि नवसंस्कार पद्धति भाषाटीका (॥)	२९ सामुद्रिक भाषाटीका (१)
12- त्रिकाल सन्ध्या भाषाटीका (१)	३० सनातनकालकारज्योतिषभाषाटीका (१)
13- कातीयतर्पण भाषाटीका (१)	३१ कर्मविपाक भाषाटीका (१)
14- शिवस्तोत्र भा०टी० (॥)	३२ सांख्य मूल (॥)
15- हरिस्तोत्र भा०टी० (॥)	३३ दुर्गाप्रसशती पाकिटबुक (ताबीज) (॥)
16- गर्त हरितीर्था शतक भा०टी० (॥)	३४ भगवद्गीता (ताबीज)
17- साजवगृह्यसूत्र भा० टी० (॥)	३५ कदाचित् कल्पद्रुम (॥)
18- आपस्तम्बगृह्यसूत्र भा०टी० (१)	३६ मन्दालमाख्यान भाषा (॥)
19- दयानन्दतिमिरभास्कर (३)	३७ श्री सुबोधिनी (१)
20- सत्यार्थप्रकाश समीक्षा (सं० २० की १५० अष्टाद्वि) (॥)	३८ भक्तमालनामाजीकृत सटीक (१)
21- विषयाविवाह निराकरण द्वितीय भाग (१)	३९ प्रभाती संग्रह (॥)
22- मुक्तिप्रकाश भाषा (दयानन्दीय मुक्ति खण्डन) (१)	४० तुलसीदासकृत रामायण गुटका (१)
23- दयानन्द लीला भाषा में (॥)	४१ " रण काण्ड (॥)
	४२ शिवमहिम्नस्तोत्र मूल कोटा (१)
	४३ चण्डपञ्चरीस्तोत्र (॥)
	४४ शिवसङ्कलन नाम मूल (॥)
	४५ विष्णुसहस्रनामगुटकामूल (॥)
	४६ बृहत्स्तोत्ररत्नाकर गुटका (॥)
	४७ दुर्गाप्रसशती कोटा गुटका (॥)
	४८ दुर्गाप्रसशती भा०टी० (॥)

४९ नाथप्रनिधान (वैद्यक) भा० टी० १५)	५२ नरक संघर्ष मूल	-)
५० अमरकोश मूल खोटा	५३ नमोसचक्र	-)
५१ अमरकोश भाषाटीका	५४ शब्दरूपपाठली	-)
५२ अभिसम्बन्धनाटक	५५ शब्दातुसंघातलीलपुष्पासुपाटनसहित	१)
५३ द्वीपदी वस्त्र हरणनाटक	५६ व्याससंज्ञकाश्रयनदीनकपाठ	१)
५४ प्रह्लाद नाटक	५७ मिथुनांत कौमुदी पद्यपाटी सं० २)	१)
५५ मोरध्वज नाटक	५८ मिथुनांत कौमुदी तत्त्ववाचिनी टी	५)
५६ रत्नाशुक संवाद	का सहित	५)
५७ गङ्गाकहरी भाषाटीका तथा	५९ कथुकीमुदीदिपय्यापद्धितके टी	१)
शिवरिखी हस्त	६० नाथप्रनिधीयाह्निक	११)
५८ रघुवंशमञ्जिनापठतटीकासहित	६१ पारंगताराहपद्धति भा० टी०	१)
५९ भोजप्रबन्धमूल	६२ दशकर्म पद्धति	१३)
६० धनुर्वेद संहिता भा० टी०	६३ हरिविष्णुवाक्यान भा० टी०	१०)
६१ होडाचक्र (ज्योतिष)	६४ सत्यनारायण कथा	=)
६२ तैत्तिरीयसूत्रपौत्तिपसंटीक ४	६५ मनुस्मृति भाषाटीका	२)
अध्याय	६६ वाल्मीकीयसामायन कटीक	२)
६३ शीघ्रवीथ भा० टी०	६७ श्रीमद्भागवतसटीककृष्णिकासहित	२)
६४ कथुपाराशरी भा० टी० ज्योतिष ३)	६८ श्रीमद्भागवत मुद्रिका	१०)
६५ बालवीथ ज्योतिष	६९ नाथप्रनिधीयपुराण भा० टी०	६)
६६ ज्योतिषसार भा० टी०	७० तैत्तिरीयाश्वमेधमूल	३)
६७ वर्षदीपकपञ्चीमार्ग	७१ गङ्गापुण्य भा० टी० प्रेतसम्ब	१)
६८ सुहृत्तचिन्तामणि भा० टी०	७२ भजनपदासा नूतन रूप है	=)
	७३ पञ्चनद्यामय विधि भा० टी०	-)

इन पुस्तकों का आकस्मिक पृथक् तौल के हिमाय से लगेगा । सं० २५ से पूर्व हमारे यहां के पुस्तक हैं उन को १) नगद देकर लेने पर ६१) के पु० मिलेंगे । आगे २ अधिक लेने पर अनिश्चित भी अधिक मिलेगा । पुस्तक वे० २६० नगना चाहिये । १) तब के पुस्तक लगाने वाली याहक अनुमान से आकस्मिक प्रचल में तब पु० वे० २० भर्जे जायेंगे । छिंटो पत्रादि निम्न पत्रे से भर्जे ।

पता-मैनेजर सनातन धर्म पुस्तकालय

इटावा

